टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन

सारिका

कहानियों और कथा जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५: अंक :३८३: जून'८५ द्वितीय पक्ष: मूल्य : ४ रुपये

सर्वभाषा कहानी एवं लघुकथा प्रतियोगिता – १९८४

पुरस्कार विशेषांक

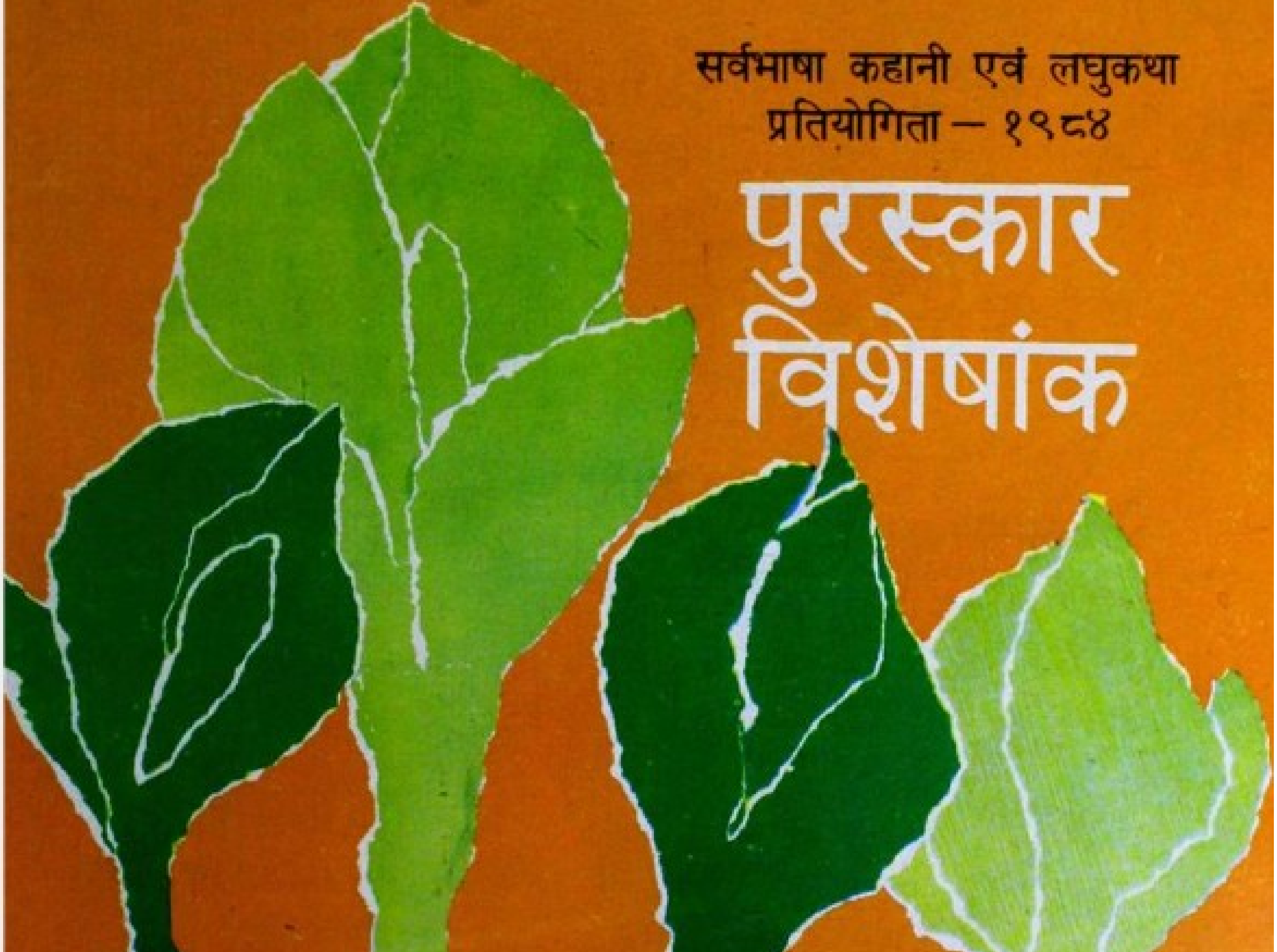

पाठकों की सुविधा एवं बचत के लिए

नये रूपाकार में सारिका का यह अंक आपके हाथों में है. इस रूपाकार में हम आपको 100 पृष्ठों से अधिक की सामग्री 76 पृष्ठों में ही दे रहे हैं जबकि मूल्य में वृद्धि केवल 50 पैसे की ही हुई है. यदि आप वार्षिक चंदा हमें सीधे भेजें तो वर्ष में आपको 6 रुपये की और भी बचत हो सकती है. आपको करना केवल इतना है कि अपने शुल्क का राशि हमें बैंक ड्राफ़्ट/मनी आर्डर/पोस्टल आर्डर सहित नीचे दिये गये कूपन के साथ तत्काल भेज दें.

शुल्क की रियायती दरें इस प्रकार हैं :

देश में (बंगलादेश, नेपाल सहित)

वार्षिक : 90 रुपये

छमाही : 47 रुपये

विदेश में सिर्फ समुद्री डाक से :

144 रुपये वार्षिक

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह मास के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम ....

पता ....

....

....

हस्ताक्षर ....

शुल्क तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें.
मुख्य प्रसार प्रबंधक
सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,
7, बहादुरशाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-110002

अगला अंक

क्या आप चाहते हैं कि आपके जीवन पर कोई कहानी लिखी जाये. . . ?

—शायद आपका जवाब होगा, "हां ! . . . . .पर लिखता ही कौन है जो !" मगर आपको मालूम ही नहीं कि आप पर तो सैकड़ों कहानियां लिखी जा चुकी हैं. . . . .और इस बार आप ही की अपनी कहानियों का एक भरा-पूरा संसार प्रस्तुत कर रही है—सारिका : रजत जयंती वर्ष की तेरहवीं सौगात—

प्रतिनायक कथा अंक

संत्रस्त, समझौतापरस्त, हताश, संघर्षरत, बदहाल, पस्त मगर जीवंत लघु-मानव की जिजीविषा को उजागर करती कहानियों का दस्तावेज. . .

- फणीश्वरनाथ रेणु, कृश्न चंदर, काफ्का, एंतोन चेखव, मोपासां, अमृता प्रीतम, ओ. हेनरी, हेनरिख ब्योल, राबर्ट लुई स्टीवेंसन हरीश पाठक, दिनेश त्यागी, लुई एम. मैरीवेदर, रेसत नूरी गूंतेकिन, जीलानी बानो, प्रफुल्ल राय, मनोज बसु, उमेश अग्निहोत्री, सादेह हिदायत आदि की सशक्त रचनाएं.
- 'प्रतिनायक' की पहचान और अस्मिता के संदर्भ में बंधन का आलेख—'अ-चरित्र और कहानी'.

0 आते हुए लोग : ऋषि प्रियदर्शी की कहानी—'रोशनी की ओर.'
0 तीसरी नजर : राकेश वत्स.
0 आपकी बात, अपनी बात, लघुकथाएं आदि स्थायी स्तंभ.

सारिका 1 जुलाई, 1985

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करवा लें.
प्रत्येक अंक : विशेष अंक

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

संपादक
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक
रमेश बतरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा
सुमीता

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी
वर्ष : 25; अंक : 383; 16 से 30 जून, 1985

पुरस्कार विशेषांक

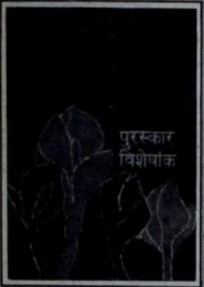

आवरण : सुमीता

पुरस्कृत कहानियां
13 तलाश (प्रथम) : कैलाश चंद्र
19 सिघाड़े की बेलि : (द्वितीय) : बलबीर लोकेश
24 शरीफ लोग (तृतीय): विवेकानंद
28 विकलांग : मृत्युंजय तिवारी
32 कार्टून : विकास कुमार झा
35 सलीब पर चढ़ा शैशव : शुभदा मिश्र
41 सफर : केशव
47 टापू : ज्ञानप्रकाश विवेक

पुरस्कृत लघुकथाएं
15 लंगड़ा (प्रथम): पवन शर्मा
20 दृष्टि-दोष (द्वितीय) : कुंअर बेचैन
26 रेजा-कुली (तृतीय) : अंकुश्री
30 अन-अपेक्षित : जगदीश कश्यप
34 उलझन : नसीर इस्माइली

37 सहानुभूति : कुदरतअली कुरैशी
43 मेरे आसपास : विष्णु प्रसाद
48 बोहनी : सिद्धेश्वर

आत्मावलोकन
60 घरघुसरा : मनहर चौहान
70 क्या घरघुसरा मर गया?: हिमांशु जोशी

सर्वेक्षण
50 वर्ष 1984 की कहानियां : प्रेम जनमेजय
54 वर्ष 1984 के उपन्यास : रमाकांत
57 वर्ष 1984 की पत्रिकाएं एवं साहित्यिक हलचल : विविक रमेश

अन्य आकर्षण
6 आपकी बात
8 बहस
9 अपनी बात
10 निर्णायकों की नजर
73 हलचल
74 तीसरी नजर

संपादकीय पता : सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

आपकी बात

महाविनाश की कहानियां

श्रेष्ठतम रचना पर अंकुश

सारिका का अंक 378 एक ओर महाविनाश की कहानियों का अनूठा उपहार है, साथ ही इस तथ्य का पोषक है कि यदि मानव स्वयं को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना बनाये रखना चाहता है तो उसे अपने पर कुछ अंकुश भी रखने होंगे ताकि उसके द्वारा अन्वेषित/संश्लेषित पदार्थ उसके हित तक ही सीमित रहें. 'हिरोशिमा के फूल' कहानी ने विनाश के बाद भी विनाश की शृंखला का आभास दिया है. 'कालिदास का विद्रोही मेघ' प्रदूषण-प्रधान विकास पर प्रखर आघात है.

O एच. के. उपाध्याय, सिबसागर (आसाम)

शब्द चाहिए

जीवों पर मंडरा रहे भयानक त्रासदी के इस काल में 'महाविनाश की कहानियों' की जितनी सार्थकता है शायद दूसरे की नहीं.

बाला दुबे की 'उंगलियों से लटके सलीब,' बशीर हेदरारी की 'गैस चेंबर से फरार' तो प्रश्न है भावी युद्ध प्रवर्तकों से कि उसे कौन-सा विनाश कहा जाएगा जिसके लिए उनकी नाभकीय आयुध पूरी सृष्टि को कई बार समाप्त करने के लिए पर्याप्त है? देखना है है इस जेहाद से भावी युद्ध प्रवर्तकों में जीव कल्याण के प्रति चेतना जागृत होती है या जीव विनाश हेतु कलेजा पुष्ट.

O नरेंद्र मनोज, सहरसा (बिहार)

हम अभी बहुत पीछे हैं

दो साल बाद, विदेश से लौटने पर, महाविनाश की कहानियों पर आधारित सारिका का अंक देखने में आया.

इस अंक में या तो द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व का महाविनाश है या भोपाल गैस दुखांतिका तक की सुर्खियां. भोपाल गैस घटना से कुछ दिनों-हफ्तों पूर्व मेक्सिको में भी एक दुखद गैस दुर्घटना में सैकड़ों लोग मरे थे. यूं विश्व में उसके बाद भी कई महाविनाशी लीलाएं हुई.

अंक देखकर लगता है—भारत में बहुत कम लेखक—महाविनाश पर काम कर गये हैं, या कर रहे हैं. वे क्या कारण हैं जो हमारे, देश में ऐसी कहानियां नहीं लिखी गयीं तादाद में. महाविनाश कहानियों को संप्रेषित करने का सरल माध्यम है—'साइंस फिक्शन', जिसका पूर्ण अभाव है. वर्तमान दौर में, जहां विनाश की संभावनाएं आकाश के पार होने की हैं वहां अमेरिका, रूस और लंदन में 'साइंस फिक्शन' तेजी से बढ़ता हुआ मनोरंजन है—शब्द साहित्य में, पर्दे के साहित्य में, तथा घर के टी. वी. में. सीधे शब्दों में व्यापार का नया स्रोत.

ब्रजेश्वर मदान की जानकारी हेतु 'द डे आफ्टर' के बाद कई 'साइंस फिक्शन' आधारित 'मूवी' आयीं. जिसमें 2010 (स्पेस फिक्शन) तथा 'द थ्रेड्स' (बी. बी. सी. लंदन द्वारा) प्रमुख रहीं. इसके अलावा—मध्य-अमेरिका और दक्षिण-अमेरिका की विनाश लीलाओं पर वैस्ट मास मीडिया पर रोजमर्रा की समस्याओं की तरह मूवीज आ-जा रही है. हमारे यहां दूरदर्शन अभी परतंत्र है, फिल्में बंबईया.

अगर महाविनाश की राजनीति (महेश दर्पण) जलियांवाला बाग है तो सुपर पावर्स, या स्टारवार को किस श्रेणी में रखेंगे आप? इन दिनों गत पांच वर्षों से चलित चर्चा, जो न्यूक्लियर डिजेस्टर या हालोकास्ट फीयर है—उसकी राजनीति की बात अगर रूस, अमेरिका अपने मध्य करे तो जंचता है. भारत को तो अभी टी. वी., कंप्यूटर से आगे आना शेष है. उसे 21 वीं शताब्दी में पहुंचने के लिए 15 वर्ष और जीना होगा न.

हम लोगों को पहले विज्ञान की महत्ता को समझना है, फिर साहित्य में वैज्ञानिक मानसिकता को, तत्पश्चात उसके तर्क-वितर्क को साहित्य के जरिये आवाज उठाने का माध्यम बनाना होगा.

O डॉ. यश गोयल, जोधपुर

शहर की बल्दियत

अल्जीरिया से चार वर्ष के प्रवास के बाद लौटने पर सारिका का अप्रैल, 85 अंक (प्रथम पक्ष) पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ. इतने लंबे अंतराल के बाद अपने घर-पड़ोस के किशोर-किशोरी बन गये बालक-बालिकाओं को, जो इस बीच इतना बदल गये थे कि कई तो पहचान में ही नहीं आये, देखकर जो अनुभूति हुई वैसी ही कुछ 'सारिका' को देखपढ़कर हुई. 'सारिका' बिलकुल ही नयी लगी. रूप, आकार, साज-सज्जा, सामग्रियां और परोसने का ढंग—सब कुछ नया लगा. इस नयेपन की सुगंधि मन-प्राणों को सुवासित कर गयी. हमारी बधाई.

अल्बेर कामू की कर्मभूमि अल्जीरिया में बहुत दिनों तक रहने के कारण उनके उपन्यास 'ला पेस्ट' (प्लेग) के संक्षिप्त रूपांतर पर सबसे पहले दृष्टि गयी. प्रस्तुति श्लाघ्य है. किंतु कथा-परिचय में 'ओरान' शहर को फ्रांस का शहर बताया गया है. ऐसा नहीं है. वस्तुतः ओरान अल्जीरिया का, राजधानी अल्जेर के बाद दूसरा सबसे बड़ा शहर है जो भूमध्य सागर के दक्षिण-पश्चिम तट का एक बंदरगाह भी है. अल्बेर कामू जिन दिनों अल्जीरिया में रहकर साहित्य साधना कर रहे थे अल्जीरिया पर फ्रांसीसियों का आधिपत्य था. अल्बेर कामू के बहुचर्चित प्रथम उपन्यास लेत्रांजे की कथाभूमि भी अल्जीरिया की राजधानी अल्जेर थी.

O गगन प्रसाद, पटना

> **भूल सुधार**
>
> नवांकुर विशेषांक में प्रकाशित कहानी 'अलंकित इंद्रधनुष' (पृष्ठ 26) के लेखक राकेश सिंघई हैं राकेश सिंघई नहीं. और 'एक अद्वितीय साहित्यकार का स्मरण' (पृष्ठ 6) टिप्पणी के लेखक के. एस. तूफान हैं गिरीश पंकज नहीं. दोनों अशुद्धियों के लिए हमें खेद है. —सं.

अनुत्तरित प्रश्न

गत एक वर्ष से सारिका का नियमित पाठक हूं, इसकी कहानियां नित्य-प्रति साहित्य स्तर के बहुआयामी सोपान की ओर अग्रसर है. हर कहानी का अंत इस प्रकार से होता है कि मन-मस्तिष्क झंकृत हो उठता है.

प्रत्येक कहानी पाठक पर अनेक अनुत्तरित प्रश्नचिन्ह छोड़ जाती है.

लघुकथा इसका अपना विशिष्ट अंग है, किंतु कुछ समय से यह अनुभव कर रहा हूं कि पूर्व की अपेक्षा इसकी प्रकाशन संख्या कम हो गयी है. यदि लघुकथाओं की संख्या पर्याप्त मात्रा में हो तो सारिका में पाठकों की अभिरुचि अधिकाधिक जागृत होगी.

यह अंक 'महाविनाश की कहानियां' लेकर उपस्थित हुआ—एक-एक कहानी मानवता के मुखौटे में दानवता के नग्न तांडव को अनावृत्त करती है. इसी अंक में प्रकाशित एविता मोरिस कृत 'हिरोशिमा के फूल' व होल्मर सीदेरबर्ग कृत 'जलता हुआ शहर' कहानियां विशेष उल्लेखनीय रहीं.

O प्रमोद कुमार सिसोदिया, गुड़गांव

स्त्री-पुरुष संबंध की कहानियां

भारतीय युवकों की प्रगतिशीलता

सारिका का अंक 379 हाथ में है. इस अंक की सभी कहानियां स्त्री-पुरुष संबंध पर नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य करती हैं.

राजेंद्र यादव की कहानी अलग हुए पति की मानसिक स्थिति का स्पष्ट खाका खींचती है. बच्चे माता-पिता के टूटते रिश्तों को जोड़ने की सशक्त कड़ी के रूप में काम करते हैं. 'दमयंती हरण' एक यथार्थवादी कम आदर्शवादी रचना अधिक कही जा सकती है क्योंकि वास्तविक जीवन में भारतीय युवक इतने प्रगतिशील विचारों के नहीं होते.

कई बार हमारे साथ ऐसी घटना हो जाती है कि हम सोचते रह जाते हैं कि यह क्यों और कैसे हुआ! पर सारी जिंदगी बीत जाने पर भी उत्तर नहीं मिल पाता है. इसी बात को अलबर्तो मोराविया ने बड़े अच्छे शब्दों में लिखा है.

श्रीकांत वर्मा की कहानी में स्त्री शरीर के अंगों का वर्णन अनावश्यक प्रतीत होता है. वहीं मोपासां की कहानी बहुत ही स्वाभाविक लगी. औरत में विचारों की प्रगतिशीलता अधिक पायी जाती है. खासकर 'स्त्री-पुरुष संबंध' के विषय में, यह ग्राहम ग्रीन की कहानी से स्पष्ट है. यही इस अंक की 'श्रेष्ठ कहानी' लगती है.

चंद्रगुप्त विद्यालंकार के लेख को पढ़कर स्पष्ट हो गया है कि स्त्री-पुरुष समानता के क्षेत्र में हमारा समाज कितना पिछड़ा है. माता-पिता (खासकर जब वे तलाकशुदा, विधवा अथवा विधुर हों) की आवश्यकताओं के बारे में बहस करना तो दूर, सोचना तक पसंद नहीं किया जाता. काश हम हर विषय पर खुलकर बातें कर पाते. कितनी समस्याएं तो यूं ही सुलझ जातीं. अच्छा हो कि लोहिया के विचारों को 'सारिका' के हर अंक में छापें. दिनेश त्यागी की लघुकथा एक सशक्त रचना है जो भारतीय पुरुष प्रधान समाज (सामंती मानसिकतावाले पुरुषों) के मुंह पर एक दूसरे करारे 'तमाचे' के समान है. मक्सिम गोर्की की 'ममता' ने एक बार फिर जयशंकर प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी की याद दिला दी.

O इंदिरा डोंडियाल, लखनऊ

पुरुष शोषण की शिकार

सारिका का 'स्त्री-पुरुष संबंध की कहानियां' अंक पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और काफी देर तक विचारों में गुम रहा. अंक हर दृष्टिकोण से संग्रहणीय अंक है. 'दमयंतीहरण' में लेखक राजकमल चौधरी ने आज के समाज में असहाय नारी की दुर्दशा का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उससे किसी को इंकार नहीं हो सकता. नारियों के प्रति दुहरा रुख रखनेवाले ऐसे ही समाज के तथाकथित ठेकेदारों पर नारियों के शोषण का दायित्व आता है मगर उनके शक्तिशाली होने से कोई विरोध नहीं कर पाता. 'क्षुधा', ममता', 'रेखा' आदि कहानियों ने मानस-पटल को झकझोर कर रख दिया है. आखिर नारियां कब तक पुरुष शोषण का शिकार होती रहेंगी? यह एक अहम प्रश्न है, हम सबके सामने. आकर्षक आवरण सज्जा के लिये सुमीता को बधाई. जहां तक परिचर्चा का प्रश्न है तो मैं युवा उद्यमी अशोक और कवियत्री निर्मला गर्ग के तर्कों से पूर्णयता सहमत हूं. दरअसल प्रेम विवाह तभी सफल हो सकता है जब हमारा दृष्टिकोण एक हो. जब हम यह समझेंगे कि जो चीज अपने लिये ठीक है वह दूसरों के लिए भी ठीक होगी और यह तभी संभव है जब मानसिक रूप से हम तैयार हों और परंपरागत बुराइयों के खिलाफ लड़ें. मौज-मस्ती को प्रमुखता देनेवाला प्रेम संबंध कभी भी सफल नहीं हो सकता ...कभी नहीं.

O सुरेंद्र प्रसाद सिंह, गया

> **हिंदी-उर्दू का झगड़ा मियां-बीवी का झगड़ा है**
>
> 'सारिका' के 'राजिंदर सिंह बेदी विशेषांक' से अभिभूत हूं. राजिंदर सिंह बेदी की इतनी नायाब कहानियां छापकर आपने बेदी साहब के प्रेमियों को बहुत बड़ा नायाब तोहफा दिया. इतनी अप्राप्त कहानियां देखने को मिलीं कि सारिका का यह अंक सहेजकर रखने के काबिल हो गया है. उनके अंतिम दिनों में जब मैं उनसे साक्षात्कार कर रही थी तब एक दिन उन्होंने लगभग रोकर पूछा था कि क्या हिंदीवाले सचमुच मेरा यह साक्षात्कार छापेंगे. जब मैंने उनसे कहा कि आप लेखक भले ही उर्दू के हों पर आप जाने हिंदी के माध्यम से ही जाते हैं. आपकी वही कहानियां, उपन्यास ज्यादा चर्चित और पढ़े जाते हैं जो हिंदी में हैं, तो बहुत दिनों बाद मैंने उनके होंठों पर बेदीवाली शरारत, मुस्कराहट देखी. उन्होंने कहा था कि ये जो हिंदी-उर्दूवाला झगड़ा है वह मियां-बीवी के झगड़े की तरह है. तब मैंने उनसे कहा था कि जाहिर है कि इनमें मियां कौन है! इस पर वे खूब खिलखिलाकर हंसे थे. अगर आज वे जीवित होते तो सारिका का यह अंक देख बहुत खुश होते. तो संपादक जी, लेखकों की जिंदगी में उन पर अंक निकालिये तो क्या ही अच्छा हो.
>
> O पदमा सचदेव, नयी दिल्ली

नारी चरित्र के मूल उपादान क्या हैं?

सारिका का 'स्त्री-पुरुष संबंध की कहानियां' अंक पढ़ा. 'औरत और मर्द' (चंचल) तथा 'गुलामी-दर-गुलामी' (अमृता प्रीतम) पढ़कर सोचने पर मजबूर हुआ कि पुरुष किस हैसियत से स्त्री को अर्द्धांगिनी स्वीकारता है. आधी दुनिया का हक भी तो उसने उसे दिया नहीं है. आज स्त्री का केवल दोहन किया जा रहा है, रिश्ते भुनाये जा रहे हैं. दूसरी ओर रिश्ते की सुंदरता चाहनेवाले पुरुष भी कम नहीं हैं. परंतु सामंजस्य नहीं दिखता और फिर सामंजस्य के बिना सुंदरता कैसी? नारी की सत्ता स्वीकारने में पुरुष का अहं चोट खाता है. कंधा मिलाने की बात सिद्धांततः रह गयी है, व्यवहार में तो अस्तित्व, महत्ता, सत्ता-अधिकार के नाम पर पुरुष बौखला उठता है. जबकि वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष स्त्री को गिराकर खड़ा रहता है और स्त्री गिरकर भी पुरुष की रक्षा करती है. अपनी धर्म रक्षा के लिए पुरुष स्त्री का परित्याग कर सकता है और स्त्री परित्यक्त होकर भी पुरुष के धर्म की रक्षा करती है. अलावा इसके स्त्री का एक दूसरा पहलू भी इस प्रश्न में निहित है कि उसके चारित्र्य-उपादान क्या हैं? इस प्रश्न के उत्तर की आवश्यकता तब भी महसूस की गयी थी जब राज सभा में दुष्यंत ने शकुंतला पर कपटाचरण का दोष मढ़ा था. तब उपस्थितों में से गोमती ने साहसपूर्वक कहा था—"शकुंतला प्रकृति की गोद में पली है. वह छल करना जानती ही नहीं." किंतु राजा दुष्यंत ने निश्चयपूर्वक कपटाचरण को नारी के मूल उपादानों में एक बताया था. आज भी 'तिरिया चरित जाने ना कोई' कहकर पुरुष वही बात दूसरे तरीके से कहता है. एक स्थिति यह भी है कि पुरुष स्त्री को शीलभंग के लिए माफ नहीं करता, किंतु स्त्री उसे माफ कर देती है. फिर यह और भी जरूरी हो जाता है कि नारी-प्रकृति के मूल उपादानों पर पुनर्विचार हो.

O चरणसिंह अमी, इंदौर

(बहस :)

साहित्य नहीं रहेगा तो क्या हम भी बचेंगे?

सारिका अपना रजत जयंती वर्ष कुछ विशिष्ट सामग्री के आधार पर मना रही है. यह विशिष्ट सामग्री कुछ स्थितियों को लेकर भी हो सकती है और कुछ समस्याओं, व्यक्तियों या 'थीम्स' को लेकर भी. हमारे इस प्रयास को सुधी पाठकों ने काफी सराहा है. सारिका के शुभाकांक्षी गोविंद मिश्र ने विशिष्ट सामग्री लेकर प्रस्तुत की जा रही इस योजना के अन्यतम पहलुओं की ओर संकेत करते हुए हमें सचेत भी किया है. (देखें, विचित्र कथा विशेषांक, 1-15 मई, 85) इसीलिए इस संदर्भ में हमने पाठकों की प्रतिक्रिया आमंत्रित की थी. हमें खुशी है कि पाठकों ने इस पर अपनी महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं भेजीं. उन्हीं में से क्रमशः प्रारंभिक प्रतिक्रियाएं पिछले अंक में प्रकाशित की गयी थीं. प्रस्तुत हैं कुछ और प्रतिक्रियाएं—

साहित्यकार जब चुक जाता है

सारिका रजत-जयंती वर्ष में जो उपहार पाठकों को दे रही है, वह सराहनीय एवं संग्रहणीय है. भाई गोविंद मिश्र का आरोप सरासर बेबुनियाद है. साहित्यकार जब चुक जाता है तो वह आलोचक बन जाता है. फिल्मी नायिकाओं-नायकों के जब दिन लद जाते हैं तो वे 'स्टंट' का सहारा लेते हैं. कहीं गोविंद भाई का भी इरादा यही तो नहीं है. मुझे 'सारिका' के आयोजन से पूर्ण संतोष है. अश्कजी ने परचून की दूकान खोली और साहित्यिकों के बीच चर्चा के पात्र बने. आपका (मिश्रजी) यह प्रयास मुझे कुछ वैसा ही लगता है, माफ कीजिएगा.

O शीला विश्वास, पूर्णिया (बिहार)

साहित्य नहीं कुनैन

सारिका का रजत जयंती वर्ष है. दीर्घजीवी हो, यही कामना है. मगर रजत जयंती, विशिष्ट सामग्री और 'थीम्स' के नाम पर जो दिया जा रहा है, उसमें से अधिकांश कुनैन की भांति कंठगत हो रहा है. हां, व्यक्तियों की बात अलग है. जो लिखा गया, छप गया और पढ़ा गया वही फिर परोसा जाय तो अरुचि ही हाथ लगेगी. पुस्तकें इसलिए ही छापी जाती हैं, जिसने नहीं पढ़ा, वह पढ़े. पत्रिका इसलिए प्रकाशित होती है कि नया स्तरीय लिखना बंद नहीं हुआ है. पुराने से नया कितना आगे है. कितना पीछे है. पहले लिखा स्तरीय साहित्य तो पुस्तक रूप में सुरक्षित है ही. नया लिखा साहित्य कहीं गुम न हो जाय. इस प्रकार नयी पीढ़ी जो पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य में अपनी पहचान बनाने का प्रयास करती है, वह कैसे बना पायेगी? भाई साहब, यदि श्रद्धेय महावीर प्रसाद द्विवेदी पर भी व्यावसायिकता का रंग चढ़ जाता तो आज प्रेमचंदजी और जैनेंद्रजी जैसे महान साहित्यकार शायद ही हमारे हाथ लग पाते.

भाई मुद्गलजी, आप रजत जयंती पर हमें सोने की बालियों का जो उपहार भेंट कर रहे हैं, वह कान काटनेवाले सोने का उपहार है. बस, आपसे विनम्र निवेदन है कि हरि (गोविंद मिश्र) की बात मानकर 'सारिका' को पुनः सारिका का रूप दीजिए जिसकी मधुरवाणी प्रातः की पहली किरण के साथ हमारे कानों में प्रवेश कर साहित्य सृजन के लिए उद्वेलित करे. उपहार तो नव वर्ष अथवा तीज त्योहार पर ही अच्छे लगते हैं.

O बलबीर त्यागी, शाहदरा, दिल्ली

हमारा भी ध्यान रखें

गोविंदजी के पत्र ने मनोमस्तिष्क को इतना अधिक उद्वेलित कर दिया कि 8 मई से एम. एस. सी. कैमेस्ट्री की परीक्षा होते हुए भी स्वयं को लिखने से न रोक सकी.

उन्होंने लिखा है कि साहित्य को सबसे अधिक निकट से छूती हुई पत्रिका का दुरुपयोग, कामू, हेमिंग्वे आदि विदेशी व पुराने लेखकों को छापने के लिए किया जा रहा है, नये व युवा लेखन की उपेक्षा करके; जो शायद आज नहीं छपे तो मानव जाति के लिए खो भी जायें.

पहली बात तो यह है कि सारे हिंदुस्तान में केवल सारिका ही अकेली साहित्यिक पत्रिका नहीं जो यथार्थ, सत्य, मूल्यों और प्रेम का उच्चकोटि का साहित्य छापती हो. और अगर लेखन वास्तव में स्तरीय है तो वह स्वयं अपने छपने का स्थान ढूंढ लेगा, वह किसी अकेली 'सारिका' पर ही निर्भर नहीं है.

दूसरे उन्होंने कहा है कि जिन्हें कामू, हेमिंग्वे . . . आदि पढ़ना है वे तो ढूंढकर पढ़ ही लेंगे. अब यही बताइये कि इनके बांदा जैसे छोटे शहर में, जहां उनका बचपन (मिश्रजी के जीवन का अधिक समय) आदि व्यतीत हुआ है, के पाठक कहां ढूंढने जायें उन्हें? बताइये, क्या यहां वह स्तरीय साहित्य उपलब्ध है जो सिर्फ 'चार रुपये' में मध्यवर्गीय परिवार के युवा को, इतनी सरलता पूर्वक प्राप्य है? (सारिका के रूप में.)

हम युवा हैं. माना कि हमें नया चाहिए. पर क्या हमें अपने सौंदर्यमय अतीत को जानने की जिज्ञासा नहीं होती? और फिर कुछ भी नया करने के लिए पुराने का ज्ञान होना आवश्यक है. विज्ञान की छात्रा होने के नाते मुझे मालूम है. (और गोविंदजी ने ही एक बार मेरे सवालों के उत्तर में लिखा था कि 'किसी भी एक अच्छी रचना के पीछे सालों का अध्ययन, चिंतन और मनन काम करता है. अगर लिखना है तो खूब पढ़ो. जीवन को समझने में साहित्य ही मदद कर सकता है. इसमें सारा जीवन लगा दें तब जाकर मक्खन निकलता है')

इस व्यस्त विद्यार्थी जीवन में जब अध्ययन ही मुख्य कार्य है, नोट्स बनाने के लिए कॉलिज के पुस्तकालय की खाक छानते-छानते सारा साल गुजर जाता है, और जब होश आता है तो परीक्षाएं सर पर होती हैं, बताइये ऐसे में कब और कहां खोजें स्तरीय साहित्य को?

गोविंदजी के इस छोटे से शहर (बांदा) में (जबकि उनको यहां से गये 15-20 साल बीत चुके हैं) उत्कृष्ट साहित्य प्राप्त करने की कोई प्रक्रिया अविष्कृत हुई हो तो वे उससे अपनी अगली पीढ़ी को अवश्य अवगत करायें, जिससे वो अपनी जिज्ञासा को शांत कर सकें.

O पूर्ति सक्सेना, कटरा, बांदा (उ.प्र.)

क्या पाया क्या खोया ?

गोविंद भाई की बात से मैं सहमत हूं. विदेशी कहानियां या कहानी विशेषांक जब प्रकाशित होते हैं तो मैं सोचती हूं विदेशियत का मोह साहित्य में भी अपनी जड़ें जमा चुका है.

हम बुद्धिजीवी जिसे त्यागने की बात करते हैं उसी में उलझ जाते हैं.

संभव है कि विदेशी साहित्य छापकर हमारी पत्रिकाएं गौरवान्वित होती हों, पर भारतीय साहित्य की अपनी ललक कुंठित हो जाती है. सारिका से कुछ नया पाने की चाह सिमटती जा रही है. जिस उत्सुकता से सारिका खरीदती हूं, पृष्ठ पलटते ही उत्सुकता मिट जाती है. बंद कर अन्य पत्रिकाओं के साथ रख सोचती हूं, सारिका से मैंने क्या पाया?

O सुधा गोयल, बुलंदशहर

हमें नवीन सामग्री चाहिए

क्या आप बतायेंगे कि 'गणदेवता', 'मुख्यमंत्री', 'चिक्कबीर राजेंद्र', 'पूर्णावतार', 'हीरोशिमा के फूल', 'प्लेग' इत्यादि उपन्यास जो काफी पहले प्रकाशित होकर ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, और साहित्य में रुचि रखनेवाले पाठकों तक पहुंच चुके हैं, उनके संक्षिप्त-सार सारिका में प्रकाशित कर आप सारिका के पाठकों को क्या दे रहे हैं? संपूर्ण रूप में उपलब्ध हो सकनेवाली पुस्तक के संक्षिप्त-सार की अपेक्षा यदि आप नवीन सामग्री प्रकाशित करें तो उससे पाठकों को अधिक लाभ हो सकता है.

O एस. एल. मीणा, चूरू (राज.)

अपनी बात

विश्वासघात के बोध और मोहभंग की स्थितियों से घिरे रचनाकार

गत प्रतियोगिता की तरह इस 'सर्वभाषा कहानी एवं लघुकथा प्रतियोगिता' में भी रचनाएं काफी संख्या में आयीं. यह संख्या पिछले वर्ष की अपेक्षा कुछ अधिक ही थी. लेकिन रचनाओं का स्तर बहुत अच्छा नहीं लगा. फिर भी निर्णायकों ने जो निर्णय दिये हैं, वह हमें मान्य हैं, उनका स्वागत है.

प्रतियोगिता के अंतिम चक्र में 20 रचनाएं आयी थीं जिन्हें हमने अपने चारों विद्वान निर्णायकों के पास भेजा और उन सभी 20 रचनाकारों को सूचित कर दिया था कि उनकी रचनाएं निर्णय के अंतिम चक्र में हैं. यहां हम आठ पुरस्कृत रचनाएं प्रकाशित कर रहे हैं, शेष 12 को आगामी किन्हीं सामान्य अंकों में प्रकाशित करेंगे. मैं इस प्रतियोगिता के सभी हिस्सेदार रचनाकारों को अपनी और अपने संपादकीय साथियों की ओर से धन्यवाद देता हूं, विजेताओं को बहुत-बहुत बधाई तथा शेष सबको हार्दिक शुभकामनाएं.

मुझे सबसे अधिक खुशी इस बात की है कि इस बार भी युवा रचनाकार प्रतियोगिता में विजयी रहे हैं. शुरू में मैंने रचनाकारों के स्तर की जो बात कही है उसका मतलब विगत की तुलना में स्तर का नीचे गिरना नहीं बल्कि ऊपर न उठ पाना है. इस 'युवा वर्ष' में यदि हम नयी प्रतियोगिता की घोषणा करेंगे तो नयी आशा और नये विश्वास के साथ करेंगे. हम चाहेंगे कि उन रचनाओं में वास्तविक युवा तेवर अपनी तमाम समस्याओं के साथ नजर आयें, जो इस बार नजर नहीं आ रहे.

लेखन के लिए जो जमीन तैयार की जा रही थी, ये रचनाएं उस जमीन से थोड़ा हटकर नयी जमीन की तलाश में हैं. यह नयी जमीन कितनी सार्थक है और कितनी निरर्थक यह एक अलग सवाल है लेकिन 1984 में जिस राजनीतिक उथल-पुथल और आतंक की स्थितियां पैदा हुईं, उसका कमोवेश असर रचनाकारों के मन पर भी पड़ा. वह असर इस अंक की कहानियों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दिखाई देता है. अक्सर देखा गया है कि अत्यधिक भय की स्थितियां कथा लेखन में प्रतीकों का सृजन कर देती हैं, लेकिन इन कहानियों में वैसा कुछ नहीं है. इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि आज का युवामन न तो किसी भय के साथ समझौता कर रहा है और न उससे अधिक आक्रांत है. यह एक अच्छी और स्वस्थ स्थिति कही जा सकती है.

पुरस्कार क्रम की प्रथम तीनों कहानियां मूल्यों के पतनशील क्रम की कहानियां हैं. पिछले वर्ष की कहानियों पर रचनाकारों के मन का आतंकबोध हावी था जबकि इन कहानियों में अविश्वास और विश्वासघात के बोध का अंधेरा किसी न किसी रूप में नजर आता है. इस बात को देखकर लगता है कि पिछले वर्ष का राजनीतिक घटनाचक्र या राजनीतिक दुर्घटनाएं अपने पंजे को युवा मन पर दबाये हुए हैं. अन्यथा रचनाधर्मिता पर विश्वासघात के बोध और मोहभंग की स्थिति की छायाएं न होतीं.

कथालेखन आज जिस स्थिति से गुजर रहा है उसे यदि इन कहानियों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो मन को किसी तरह का कष्ट नहीं होता. इन कहानियों से गुजरते हुए एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि आज का युवा रचनाकार स्थितियों के प्रति जागरूक है और उन्हें सही संदर्भों तथा अर्थों में महसूस करता है और अभिव्यक्त करता है. उसके मन में किसी तरह का दुराव नहीं है. वह अर्थों और एहसासों को किसी शब्दजाल में लपेटकर नहीं पेश करता.

मैं अंत में पिछले वर्ष की ही बात फिर से दोहराना चाहता हूं कि 'प्रतियोगिताएं प्रतिभाओं के विकास और नयी संभावनाओं की तलाश का माध्यम होती हैं. इन्हें पूरी तरह खेल भावना से और स्वस्थ मानसिकता से स्वीकार करना चाहिए. हार-जीत या प्रकाशन-अप्रकाशन का प्रभाव रचनात्मक विकास-यात्रा को अवरुद्ध करता है.' हम सबको इन अवरोधों से बचना चाहिए और लेखन के सिलसिले को किसी भी तरह कुंठित नहीं होने देना चाहिए.

निर्णायकों की नजर

अनुभव का दायरा सीमित है।

श्रीलाल शुक्ल

पिछले साल जो कहानियां मेरे अभिमत के लिए आयी थीं, उन्हें पढ़ने का अनुभव इस साल की कहानियों के मुकाबले कहीं ज्यादा सुखद था. ये बीस कहानियां प्राय: आम आदमी के दुख-दैन्य की गाथाएं हैं और इनके अनुभव का दायरा बड़ा सीमित-सा है. उल्लेखनीय बात यह है कि इन कहानियों में केवल 'शरीफ लोग' के एक पात्र को छोड़कर अनाचार और सामाजिक दुर्व्यवस्था से साहस पूर्वक लड़ने का कोई भी लक्षण नहीं दीखता— जबकि वास्तविक जीवन में मानवीय साहस और तेजस्विता, सब प्रकार की प्रताड़ना और शोषण के बावजूद इतनी बुझी हुई नहीं लगती. जीवन के इतने व्यापक पक्षों को छोड़कर कहानियां कुछ गिने-चुने पक्षों पर ही अपने को केंद्रित जैसा करती हैं. कुछ हद तक तो आज के यथार्थ के प्रति लेखकों के अत्याग्रह के कारण यह है, कुछ हद तक चालू साहित्यिक फैशनों की वजह से भी. पर इसमें संदेह नहीं कि कहानियों में अन्वीक्षण का पैनापन और शिल्पगत बहुलता बड़ी मात्रा में उपलब्ध है. अलग-अलग कहानियों पर अपनी राय इस प्रकार है—

सलीब पर चढ़ा शैशव

एक विकृत प्रवृत्तिवाला पिता अपने दो बच्चों से क्रूरता बरतता है. पत्नी के देहांत के तुरंत बाद दूसरा विवाह करता है. . . और संपत्ति के लालच में दोनों बच्चों को अपने संरक्षण में रखना चाहता है. शीला—बड़ी लड़की—स्कूल में आये हुए पिता के षड्यंत्र से त्रस्त है. आतंक और त्रास की, एक किशोर लड़की की दृष्टि से—सशक्त कहानी, पर स्थिति का चित्रण अधिक है, कथा तत्व कम. भाषा संबंधी अपरिपक्वताएं भी हैं.

शरीफ लोग

पुलिस के अनाचार और कुछ प्रभावशाली सामाजिक तत्वों की ज्यादती के खिलाफ खड़े होने वाले राघव नामक नालसाज की कहानी, जो उग्रता के साथ अनाचार का प्रतिरोध करता है. सामान्यजन तटस्थ रहते हैं. 'लुंपेन प्रोलिटेरियट' का जोरदार चित्रण.

लगभग दस हजार कहानियों में से पुरस्कार क्रम में विजेता कहानियों पर निर्णायक मंडल के सदस्यों की पड़ताली नजर . . . कि ये कहानियां क्या कुछ कहने की कोशिश करती हैं. साहित्य के संदर्भ में क्या ये कहानियां आज के कथा लेखन को सही अर्थों में नयी दिशा दे सकेंगी. . .?

खच्चर

एक गरीब भाड़ा ढोनेवाले के खच्चर को एक मेजर, जिसके बगीचे से वह निकल रहा था, गोली मार देता है. इसी बहाने भाड़ा ढोनेवाले की विपन्नता, सरकारी कर्ज पाने की प्रक्रिया में भ्रष्टाचार, पुलिस की हृदयहीनता और न्याय के विपर्यय का बिल्कुल फंतासी स्तर पर चित्रण. एक पठनीय कहानी, पर अत्यंत अतिरंजित.

● श्रीलाल शुक्ल

टापू

एक बेवा के एकाकीपन की कथा, जो अपने पति की स्मृतियों में इतनी खोयी रहती थी कि खुद अपनी बेटी को भी अपने मनोलोक से दूर रहने को बाध्य कर देती है. एक एबनार्मल-सा चरित्र है, जिसको पाठक की सहानुभूति तो मिलती है, पर सवाल उठता है कि जीवन के प्रति उस महिला की ही एकांगी दृष्टि उसके एकाकीपन की जिम्मेदार तो नहीं है.

विकलांग

एक असहाय, खुद्दार इंसान की करुण गाथा, जो ज्यादती से समझौता न करने के कारण ज्यादतियों का शिकार हुआ है. एक आदर्शवादी प्रवृत्ति से—जो कथा कहनेवाले के रूप में व्यक्त हुई—वह ईमानदार के विपक्ष में तर्क देता है, कथा का अंत अप्रत्याशित रूप से सशक्त है—दोनों पक्षों के मन में मूल्यों के लिए संशय का बीज बोकर.

कार्टून

पत्रकारिता और पत्रकार के जीवन की एक कहानी. गहराई न होते हुए भी वृत्तात्मक स्तर पर एक साफ-सुथरा प्रयास.

तलाश

एक गरीब आदर्शवादी अध्यापक की कहानी, जिसे उसके बेटों, यहां तक कि पत्नी ने भी छोड़ दिया है, कर्ज के कारण उसका मकान नीलाम होने को है. यथार्थ की दुखद स्थिति से बचने के लिए वह फैंटेसी का सहारा लेने को बाध्य होता है और अपने एक पुराने छात्र से उधार पाने की आशा में उसकी अनवरत तलाश शुरू कर देता है. एक साफ-सुथरी कहानी, जो मुख्य पात्र की बहिरंग और अंतरंग स्थिति को कुशलतापूर्वक उभारती है.

सिंघाड़े की बेलि

झंडू के प्रेम की, बल्कि अदम्य आसक्ति की ग्राम-कथा, पर उसमें कोई भारी चढ़ाव-उतार नहीं. कहानी एकरसता की शिकार है. गांव का वातावरण बड़ी सहजता से कथा में उतरा है. कुल मिलाकर एक आकर्षक प्रयास.

वर्तमान सामाजिक तकलीफ और परेशानी

मुद्राराक्षस

पुरस्कार के लिए आयी कहानियों में सबसे अच्छी कौन-सी है और क्यों है. इसके तर्क दिये जरूर जा सकते हैं, लेकिन यहां उस तरह के सैद्धांतिक विवेचन की ज्यादा जरूरत नहीं है.

कुल मिलाकर यह चकित करने वाली बात है कि इन सभी कहानियों का चरित्र प्रकृतिवाद और यथार्थवाद के बीच सीमित है. ऐसी स्थिति में इन कहानियों का सैद्धांतिक विवेचन कथा-परिवेश के बारे में किसी खास नतीजे तक नहीं पहुंचायेगा. हां, एक सीमित बहस जरूर की जा सकती है, जो होनी भी चाहिए.

यह स्थिति नवलेखन की है, कहानी साहित्य में, कि उसका अधिकांश रुझान प्रकृतिवादी-यथार्थवादी है. उसका शिल्प भी उससे बाहर नहीं आया, जिसकी ईजाद पश्चिमी कहानियों के प्रभाव में आज से लगभग पौन सदी पहले हिंदी में हो चुकी थी. शिल्पगत प्रयोगधर्मिता का लगभग पूरी तरह अभाव है. यह थोड़ी खेदजनक बात है. समूचे हिंदी कथा-साहित्य में जहां एक अल्पमत ही सही, प्रयोगधर्मी कहानीकारों का एक वर्ग मौजूद है, वहां इन कहानियों को देखकर लगता है कि प्रयोग के प्रति रुचि या तो समाप्त हो गयी है या उसका जानबूझकर तिरस्कार किया जा रहा है, लेकिन यह बात आश्वस्त भी करती है कि लगभग शत-प्रतिशत कहानियों की कथा वर्तमान समाज की तकलीफ और परेशानी है.

यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि आधी सदी पहले जहां कहानियों ने इतिहास और पुराण-कथाओं को अपना आधार बनाया था, वहां आज उस युगीन कथा-भूमि के प्रति कोई रुचि नहीं दिखायी देती. एक भी कहानी इतिहास या पुराण से संबंधित नहीं है. लोककथाएं भी सिरे से गायब हैं.

जहां यह बात आश्वस्त करती है कि ज्यादातर कहानियों का सरोकार आज के समाज

● मुद्राराक्षस

की परेशानियां हैं, वहीं यह बात चिंतित भी करती है कि इन समस्याओं से साक्षात् अति सरलीकृत ही ज्यादा है और चरित्रों तथा स्थितियों की बनावट में एक स्वाभाविक इकहरापन है. इस अर्थ में कहानियां प्रेमचंद की उत्तरकालीन रचनाओं से पीछे हैं. इन कहानियों में उस यात्रा की झलक भी कम ही है, जो सन् 50 के बाद के दो-ढाई दशकों में दीखी थी, जिसमें इस समाज के अंतर्संबंधों की पड़ताल हुआ करती थी. अगर यह कहीं है भी तो बहुत क्षीण और जिन कहानियों में यह अंतर्संबंधों की पड़ताल सीधे की गयी है, वह कहानियां बहुत नकली हैं.

हां, इनमें आंसू-धकेल भावुकता बहुत कम है, इस बात को भी महत्व दिया जाना चाहिए. नये कथालेखन में भावुकता और यौन-संबंधों का मोह लगभग बिल्कुल न होना बहुत खास बात है और कुछ अर्थों में बड़ी बात भी. सभी रचनाकारों में भाषा, कथ्य और समाज तथा व्यक्तियों की समझ लगभग समानांतर है. हां, फर्क वहां है, जहां कुछ रचनाकारों ने इस समझ का सीधा लेखा-जोखा न देकर उसके रचनात्मक मुहावरे खोजे हैं. ऐसी कई कहानियां इनमें हैं—'शरीफ लोग', 'खच्चर!', 'कार्टून', 'दोहरा मापदंड', 'तलाश,' 'सिंघाड़े की बेलि', 'मुर्गीचोर'... जो आज की कहानी के शिल्प और स्वरूप का निस्संदेह, सामर्थ्य के साथ प्रतिनिधित्व करती हैं, लेकिन यह बात फिर भी याद रखने लायक है कि ये कथा अवलोकन के लिए ज्यादा नयी जमीन नहीं छोड़तीं.

अगर आस्था बचायी जा सकी तो. . .

गोविंद मिश्र

निर्णायक होने के लिए फिर पकड़ा गया. और मैंने स्वीकार भी कर लिया. प्रलोभन कि कुछ उम्दा कहानियां पढ़ने को मिलेंगी. इसके भी आगे यह कि सर्जनात्मक ऊहापोहों के बीच शायद कहीं झलकता वह दिख जाये जो मेरे हाथों में सरक-सरक जाता. वह तो नहीं दिखा, क्योंकि वह कुछ मेरे मन में भी साफ कहां है. हां, यह विश्वास जरूर है कि कहीं दिखा कि फटाक से उसका आकार मेरे लिए साफ हो जायेगा. यह 'वह' क्या है . . .साहित्य, कला, जीवन, मनुष्य, ईश्वर. . . शायद एक में सब कुछ. जानता हूं कि यह जो तलाश मेरी है, वही घूम-फिरकर मेरे इन लेखक भाइयों की है, जिनकी कहानियां मैंने पढ़ीं. . .और यह तलाश बनी रहनी चाहिए, यह छटपटाहट. . .

छटपटाहट इन कहानियों में भावनाओं के उठ-उठ आते उबाल में इतनी साफ दिखायी देती है कि सीधे-सीधे छुई जा सकती है. यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं भावनाएं भी बेअसर हो जाती हैं—जहां वे बांधी नहीं गयीं, वहां या जहां वे घटनाओं की चमाचौकड़ी में भटक गयीं. घटनाओं के सिलसिले बैठाना और उनमें से कहानी तानना. . .यह आसान रास्ता है कहानी कह डालने का. आप उचकते-कूदते निकल जायेंगे, लेकिन अगर दूहों के बीच कहीं कुछ ढूंढ़ निकालने की बात हो तो? फिर यह भी तो है कि सुराही का पानी जरा-सा ही गिरता था और उतनी देर में मोहम्मद साहब कहां से कहां हो आते थे. मुझे लगता है कि साहित्य का जुड़ाव स्थूल से हो, पर बारीक हो. . .और साहित्य को बराबर ऊपर उठना चाहिए.

एक तकलीफ जो ज्यादातर कहानियों में रिसती दिखायी दी—आर्थिक संकट ऐसा विकट है कि जिस जमीन पर हम खड़े हैं, वह तेजी से ढह रही है. 'शरीफ लोग' में ढेमन चमार, 'सिंघाड़े की बेलि' में ढुल्लो, 'तलाश' में मास्टरजी और 'विकलांग' में रहीम चाचा जैसों की तकलीफ मूलत: आर्थिक संकट की है. . . पर वह जंगली लतर की तरह जीवन के पौधे पर लिपट गयी है. उसका सत्व चूसे ले रही है. हमारा यह बड़ा यथार्थ है. हर लेखक अपने-अपने ढंग से उबरने का रास्ता भी सुझा सकता है— ललकार का या स्वीकार का. कोई रास्ता सुझाने को बड़बोलापन मान सिर्फ व्यथा को शब्द दे, नहीं, उसे भोगे और पाठकों को भुगवायें, लेकिन यह सब होता रहा और पता चला कि ढेपन चमार, ढुल्लो, मास्टरजी और रहीम चाचा तो बीत गये इस बीच और पीढ़ी जो बदली तो दूसरे तरह की तकलीफें आ गयीं, जैसे समय के हर दौर में आती रहीं, नये-नये पानी की तरह. तो कुछ ऐसा भी हो सकता है क्या कि इन लोगों या इन जैसों (आज के या बाद में कभी आनेवाले) के लिए उनके यथार्थ को थोड़ा रहस्य बनाया जा सके.

● गोविंद मिश्र

कल के भ्रम के नाम पर उनकी आंखें टिकाने की बजाय उनके बीतने के क्रम को थोड़ा कम बोझिल बनाया जाये. क्या कुछ भी अच्छा . . .सुंदर शेष नहीं रहा जीवन में, क्या प्रेम-स्नेह-करुणा-सहानुभूति भी नहीं ले-दे सकते हम, क्या यह सब हमें कुछ भी नहीं देता? क्या जो भयंकर यथार्थ है, उसकी मांग यही है कि मनुष्य जीवन में आस्था ही खत्म कर दी जाये? अगर आस्था बचायी जा सकी तो क्या पता, कभी यह भी दिखायी दे कि धसकती जमीन भी बच गयी!

ऐसी संवेदनशीलता, जो सजने से इनकार करती है. . .यह देखने को मिली इन कहानियों में. लेकिन सजने से भले परहेज हो, उसे संस्कार देने से परहेज नहीं होना चाहिए. और वह संस्कार पायेगी. मुझे यह देखकर अच्छा लगा कि संस्कृति और भाषा दोनों रास्तों से कहानीकार अपनी जड़ों की तरफ जा रहे हैं . . .और सचमुच स्वयं को ढूंढने के लिए हमें पीछे अपनी और अपनी परंपरा की ओर बार-बार लौटना होगा. आप कह लीजिए मुझे कुछ, मैं यह भी कहूंगा कि अपनी अस्मिता की खोज वही है, जो आजीवन चलती रहनी चाहिए.

अपने सभी लेखक भाइयों को मेरा अपार स्नेह. पुरस्कार-प्रसंग सारिका का माया-जाल है. इसलिए कैसा हर्ष, कैसा विषाद! मायाजाल का सुबूत यह कि मैं ही जो कहानी प्रतियोगिता के लिए लिखता. . . कोई जरूरी नहीं कि वह. . .समझ गये. इसलिए चलते चलो . . . लिखते चलो...चरवैति.. .यही है जो है, सो.

प्रकृति की बारीक समझ खोती जा रही है!

कन्हैयालाल नंदन

पुरस्कार की इन कहानियों को पढ़ने का अपना एक अलग सुख है, जिसे मैंने निर्णायक होने के साथ-साथ एक संवेदनशील पाठक के नाते पढ़ते हुए अनुभव भी किया है. पिछले वर्ष भी मैंने इस योजना से जुड़कर यह सुख प्राप्त किया था और इस साल भी संयोगवश यह सुख मुझे मिला. इसमें सब कुछ सुख ही नहीं है, थोड़ा बहुत दुख भी सम्मिलित है, जो कुछ रद्दी कहानियों को पढ़ने में भोगना पड़ता है. यह दुख निर्णायक होने का है, जिसके लिए वैसी कहानियों का भी पढ़ना अनिवार्य हो जाता है.

पुरस्कार योजना के अंतर्गत आयी हुई जो कहानियां पढ़ने को मिलीं, उनमें विषयगत विविधता की कमी मुझे अक्सर खटकती रही. अधिकांश कहानियां व्यवस्था-विरोध, समाज की गलाजत, संत्रास, आर्थिक संघर्ष, अनाचार के खिलाफ लड़ाई, सामाजिक-वैषम्य आदि विषयों के इर्द-गिर्द घूमती नजर आती हैं, जिनमें स्थितियों का चित्रण तो बहुत साफ और करीने से जुड़ा हुआ मिलता है, लेकिन उन स्थितियों से जूझने के लिए जिस ताकत को पैदा करने के उद्देश्य से ऐसी कहानियां लिखी जाती हैं, ऐसी ताकत देने वाला कोई पात्र इन कहानियों में मुझे नहीं लगता—अगर एक कहानी 'शरीफ लोग' छोड़ दें, जिसमें समाज के कुछ प्रभावशाली तत्वों की सांठगांठ के साथ पुलिस के अत्याचार और उसकी कार्य-प्रणाली का पर्दाफाश किया गया है. राघव नामक व्यक्ति इस अनाचार का अपनी पूरी ताकत के साथ विरोध करता है. पुलिसवाले राघव को अपने साथियों सहित गिरफ्तार कर ले जाते है. लहूलुहान शरीर लिये राघव की कमर में रस्सी बंधी है और एक सिपाही उसे जीप की ओर खींचे लिये जा रहा है. वह जमीन पर रह-रह कर थूक रहा होता और जीप के पास आकर खा जाने वाली आंखों से भीड़ की ओर देखकर दहाड़ता है, "छेदी... तुम भी सुन लो. . . सचिन. . . तुम भी सुन. लो. . . और भैरो. . . तुम भी सुन लो. . स्साले एक-एक को पहचान रहा हूं. अब की दफा जेल से छूटकर आने दो. . . तुम सबको खत्म न कर दिया तो मेरा भी नाम राघव नहीं.

● कन्हैयालाल नंदन

देख-देखकर मजा मार रहे हो? हम क्या कोई चोर-चाई हैं और तुम शरीफ लोग? तुम लोगों को यह नहीं दिखता कि सरासर अन्याय हो रहा है. स्साले. . .हिजड़े कहीं के! "राघव का इस तरह तमतमाकर गुस्से में थूकते चले जाना भारतीय जनमानस की उस नपुंसक वृत्ति को अनाचार के खिलाफ लड़ने के लिए उकसाता नजर आता है, जिसके लिए कई बार इससे भी कड़े शब्दों की जरूरत पड़ती नजर आती है. इसके अतिरिक्त अन्य किसी कहानी का प्रभाव अनाचार से जूझने का इस सीमा तक संकेत नहीं देता कि वह समाज में अनाचार के खिलाफ एक विद्रोह की आंधी-सी खड़ी कर सके. अधिकांश कहानियों में स्थान, परिवेश और स्थितियों के सैद्धांतिक विवेचन हैं और ऐसे सैद्धांतिक विवेचन हैं, जो हिंदी कहानी को कहीं आगे नहीं ले जाते. उसी जगह पर मार्कटाइम कराते हैं, जिस जगह पर हिंदी कहानी अनेक सालों से जमीन कूट रही है.

इस बार इन कहानियों को पढ़कर यह भी महसूस होता रहा कि नयी कहानी और इसके बाद के कुछ वर्षों में, जिसे कुछ लोगों ने अकहानी-काल की संज्ञा दी थी, कथ्य की दृष्टि से शिल्प की नयी जमीनें तोड़ने की जो नयी तलाश दिखायी देती थी, वह पिछले कुछ वर्षों से लगता है, सो गयी है. उस तलाश के तहत भारतीय कथा-साहित्य का किस्सागोई का पुराना लहजा भी आज पुनर्जीवित किया जा सकता है और प्रतीकात्मक ढंग से जिंदगी की बारीक विवेचना भी हो सकती है (आखिर काफ्का ने एक तिलचट्टे के प्रतीक के माध्यम से 'मैटामार्फोसिस' में तत्कालीन जीवन का एक ऐसा दृश्य उपस्थित किया ही था, जो आने वाले दसियों साल तक विश्व साहित्य में एक विचारणीय मुद्दा बनकर छाया रहा.) मैं यह नहीं कहता कि इन कहानियों के रचनाकारों में से हर कोई काफ्का बन सकता है, लेकिन इसकी संभावना तो है ही.

कहानियों में विषय के वैविध्य की जिस कमी की ओर मैंने संकेत किया, उसमें सबसे अधिक कमी तो मुझे जीवन के सबसे महत्वपूर्ण पहलू—प्रेम तत्व की तलाश करनेवाली कहानियों की है. प्रकृति की बारीक समझ हमारे नये कहानीकारों में लगभग खोती जा रही है. भले ही उसके छोटे-छोटे ज्वलंत चित्र कहीं-कहीं इन कहानियों में झांक जाते है, लेकिन प्रकृति को मानव के समकक्ष रख कर धड़कते अंदाज में देखने-परखने की जो कला नयी कहानी के दौरे में निर्मल की कहानियों में मिलती रही है, उसके कहीं कुछ उत्स बिंदु तो हमारी आज की कहानी में मिलने ही चाहिए.

जाहिर है, अपेक्षाओं के सपनीले महल खड़े करते जाने से रहने लायक मकान नहीं बनते, लेकिन क्या लेखन इतने सीमित दायरे में सिमट कर रह जाना चाहिए कि उसके वैविध्य को कल्पनाओं तक में उतार सकने की क्षमता से वंचित मान लिया जाये. संघर्ष को ही लें तो 'तलाश' कहानी के मास्टरजी सिर्फ अपने रमेश की तलाश करते-करते बाहर निकल जाते हैं और इतने अव्यावहारिक हो जाते हैं कि घर नीलाम होने की पूरी तैयारी देख लेने के बावजूद उसका कोई कारगर उपाय से लेने के बजाय एक मृगतृष्णा की आशा में खोये रहना पसंद करते हैं, जब कि वास्तविक जीवन में इतना शेखचिल्लीपन किसी भोले से भोले इंसान की जिंदगी में भी नहीं रहा.

लेकिन शायद मैं अपेक्षाओं की एक ऐसी दीवार खड़ी करता जा रहा हूं, जिसके इस पार रहकर इन कहानियों की खूबसूरतियां मेरी निगाह से ओझल रही जा रही हैं. . . उनके विस्तार में न जाकर इतना ही कहना चाहूंगा कि वे भी कम नहीं हैं. . . और कुछ नहीं तो कम से कम आज के यथार्थ के प्रति इन कहानियों के रचनाकारों की लेखकीय सजगता के भरपूर दर्शन तो इन कहानियों में होते ही हैं, इत्यलम्. □

प्रथम पुरस्कार विजेता कहानी

अध्यापक जीवन एक आदर्श जीवन होता है, मगर जब दुखिया आदर्श अध्यापक के रुग्ण बीवी-बच्चों को दवा और दूध तक नहीं दे पाते तो उस पर क्या बीतती है?—युवा कथाकार की मर्मस्पर्शी कहानी कि दूसरों को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करवाने की क्षमता रखनेवाले अध्यापकों के अपने बेटे प्रायः भली-भांति क्यों नहीं पढ़ पाते. . . . और क्यों नहीं कर पाता हमारा समाज उसके पिछड़ते हुए जीवन का अहसास?—

तलाश

कैलाश चंद

उनके भीतर का आकाश सूना और निर्जल था.

अकाल की काली छाया में जैसे किसी के लगातार रोने की आवाज काले आसमान में भर रही हो; कुछ-कुछ वैसा ही अहसास उन्हें पीड़ित कर रहा था. पानी में हरूफ खींचने जैसी अर्थहीनता उन्हें दंश देती लग रही थी. गड़बड़ाकर जैसे सारे प्रयास एकमुश्त बेकार और नाकारा लगने लग जायें, वैसी पस्तहिम्मती एक झटके के साथ सिर से पैर तक पैठ गयी थी. वह तीखी धूप-सा निचाट मर्मभेदी क्षण था और उनके बूढ़े कांपते हाथों में बादामी रंग का एक नोटिस थमा था. उनकी खुली बेजार आंखों में दृश्य यकब-यक मरने लगे थे. उनकी निगाहों के सामने पूरा कमरा इकबारगी घूमा और घूमता रहा, फिर थम गया.

दिन के लगभग ग्यारह बजे थे. वे चूल्हे में मुंह घुसाये गीली उजड्ड लकड़ियों से जूझ रहे थे. पूरी देह धुंआरी हो गयी थी. तभी बाहर की कुंडी खड़की.

उन्होंने चूल्हे को अपनी किस्मत पर

छोड़ा और आंगन में निकल आये. हड़कते-से उन्होंने बाहर का दरवाजा खोल दिया. खाकी बुशर्ट और सफेद धोती पहने एक अधेड़ आदमी खड़ा था.

उन्हें देखते ही उसने बड़ी फुर्ती से नोटिस की एक प्रति उनके ठूंठ-से हाथों में थमा दी और दूसरी प्रति पर दस्तखत ले लिये.

वे कुछ समझें इसके पहले ही वह आनन-फानन गली के मोड़ पर जाकर गायब हो गया.

अकस्मात ही सब कुछ घटता है. हम जब तक संदर्भ और अर्थ तलाशते हैं, चीजें तेजी से गुम हो जाती हैं. छूछे हाथों में हवाभर कैद रह जाती है, बस!

वे सकते में आ गये थे—चुप्प, जड़, संदर्भहीन!

जब उन्होंने देखा, वो दरअसल, नोटिस नहीं इश्तहार था. बाद में गली के छोर पर रहनेवाले सुंदर बानी ने बताया था कि ऐसी ही प्रति तहसील के फाटक पर भी चस्पां है.

इश्तहार में लगभग दो माह आगे की तारीख मुकर्रर थी. उस तारीख पर मकान की सार्वजनिक नीलामी की सूचना दर्ज थी.

वे निरर्थक-से आंगन की तरफ लौटे जैसे किसी अंधी खोह में घुसे रहे हों. चूल्हे में धुंधआती लकड़ियां धरी रह गयीं. वे हड़ गये. कुछ समझ में नहीं आया क्या करें!

अब यह घर नीलाम होगा. वर्षों की बनती पकती संभावना अब साकार हो गयी थी. यह तो होना ही था एक दिन, कब तक इसको टाला जा सकता था.

इसके बाद अब कोई आशा नहीं है, सारे रास्ते सारी गलियां बंद हैं. अब इस वर्षों पुराने घर के लिए कोई नयी शुरुआत नहीं की जा सकती. सारी सामर्थ्य और कूव्वत इस एक अंधे क्षण में निःशेष हो गयी है. उन्होंने अत्यंत कातर हो चारों तरफ निगाहें फेरी, बहुत उजाड़ और सूना दिखा उन्हें घर जैसे जीवित रहने के सारे अहसास यहां से खो चुके हों. पहले जहां चहल-पहल गूंजती थी. मंत्रों और स्रोतों की काव्यमय ध्वनियां उठती थीं, ठहाके बजते थे, धप्प-धप्प जीना उतरने की आवाजें उमगती थीं, पवित्रता का एक अगरु-गंधभरा अहसास जगा रहता था. वहां अब अंधेरा भरा था—गहरा घना और काला!

वे पांव खचोड़ते पौर में आये और धम्म-से तख्त पर लकुटि की नाई गिर पड़े. वे एकदम शुरुआत के दिन थे. उन्होंने उमंगों में भरकर घर को सींचना शुरू किया था एक माली की तरह. . . . अब वही घर मर रहा था!

वे बड़े भोर उठ जाते और नहा-धोकर फारिग हो जाते थे. फिर दुर्गा सप्तशती का ऊंचे स्वर में पाठ करते. कंठस्थ थी पूरी उन्हें. तब तक जाविकी जाग जाती. उस समय रज्जू हो गया था, सबेरे-शाम आंगन में किलकता घूमता था. पूरे घर में उसकी किलक समायी हुई थी. पाठ से फारिग होकर वे आंगन में दस-पंद्रह मिनट मुगदर भांजते थे. कहते थे—'थोड़ा परिश्रम जरूरी है. इससे नसों में खून तेजी से दौड़ने लगता है और शरीर में चुस्ती और फुरती बनी रहती है.' तब तक जाविकी चूल्हे पर चाय का पतीला चढ़ा देती थी. वे थोड़ी देर विश्राम करते और फिर पौर में बिछे तख्त पर बैठकर लोटाभर चाय गटक जाते. इसके बाद एक कर्णभेदी डकार लेते. तब तक सूरज आसमान में और ऊपर चढ़ जाता था और गली में आमदोरफ्त जारी हो जाती थी.

वे शुरुआत के दिन थे और घर का पौधा हौले-हौले लहरा रहा था. मन पड़ता तो मुंशी रामदयाल की पौर में सटक जाते. वहां बैठकर अखबार बांचते और उनसे खर-खर बतिया भी लेते थे. मुंशीजी कांटी के आदमी थे. अंग्रेजों के सख्त दुश्मन और घोर आर्यसमाजी. क्रांतिकारियों की गतिविधियों की पूरी जानकारी रखते थे. वे ऐसी-ऐसी बातें बताते थे कि सुननेवाला जोश खा जाता था. हालांकि मुहल्ले के लोग मुंशीजी को 'सनकी' कहते थे और मानते थे कि वे लोगों को बरगलाते हैं. मुंशीजी सुनते और ऐसा कहनेवालों को एवज में क्रोध में भरकर कुत्ता या नपुंसक कह डालते थे. पर वे मुंशीजी को मानते थे.

खाना खा-पीकर वे ठीक दस बजे स्कूल के लिए चल पड़ते थे. तब लोग अपनी घड़ियां मिलाया करते थे. वे न तो कभी नागा हुए और न कभी देर से पहुंचे. बच्चों की बीमारी तक में उन्होंने कभी ड्यूटी से चूक नहीं की. जेब में वे एक जेबघड़ी रखते थे. उसकी चांदी की चेन उनकी कमीज के बटन में फंसी रहती थी. उन्हें अपनी जेबघड़ी पर फख्र था. जब वीरेन की परीक्षा-फीस के लिए उन्हें घड़ी बेच देनी पड़ी तब उन्हें यकायक लगा था कि जैसे वक्त एकदम खूंखार हो उठा है. हर चीज जैसे अपने स्थान पर ठहर-सी गयी है. एक बहुत बेबस अहसास ने उन्हें उस वक्त जकड़ लिया था. सारे वजूद और सारे अहसास उन क्रूर क्षणों में एकदम संज्ञाहीन हो उठे थे.

फिर जब मंटू को छह माह की कैद हो गयी तब यह अहसास उन्हें तीखेपन से चुभा था कि उनकी सीधी-सीधी जिंदगी में कुछ बहुत गलत हो गया है, या शुरुआत ही गलत हुई थी और आज जिसका नतीजा सामने आ गया है. हालांकि वे आज कहते हैं कि पसरट्टे की जिस दूकान में मंटू काम करता था उसके मालिक ने उस पर गलत इल्जाम मढ़ा था. पर जाविकी का कहना कुछ और था. वह कहती थी कि देर-अबेर यह तो होना ही था. भूख और कुपोषण से जर्जर मंटू ने मुट्ठीभर काजू जल्दी-जल्दी गटकने की कोशिश की और पकड़ा गया. उस बेचारे का इसमें क्या दोष था. दिनभर बेईमानी और दूसरों की जेब काटनेवाला सेठ तो कैसा हरा-भरा है और एक आदर्श शिक्षक का बेटा—बेचारा मंटू! घर उन दिनों अभावों की तृषा में झुलसने लगा था. उन दिनों बंटवारे की बात चल रही थी. आढ़त की दूकान और यह मकान उनको बंटवारे में मिल रहा था. वे तीन भाई थे. पर इंकार कर दिया... 'हमें दूकान पर बैठना पसंद नहीं. हम तो विद्यादान करेंगे. इसी में सुख है. पैसा ही सब कुछ नहीं होता. जिंदगी का आनंद जो देने में है, वह लेने में नहीं!' बड़े भैया और छोटे अपने-अपने हिस्से के लिए कैसे लड़े, देखकर रोना आता है. न बाबा न हमें कुछ नहीं चाहिए!

उस रात जाविकी उनसे खूब लड़ी थी. पर वे अपने निर्णय पर अटल रहे. कभी कुछ न बोलनेवाली ऊंची पूरी गौरवर्णा जाविकी ने उनसे क्या-क्या नहीं कहा. ऊंच-नीच समझायी, पर वे नहीं डिगे. पर बाद के दिनों में उनका यह समीकरण टूटता चला गया. उनकी निगाहों में पैसा ही सब कुछ नहीं था पर पैसों के अभाव ने उनको बुरी तरह तोड़ दिया. पैसे का अभाव एक कहर की तरह उन पर टूटा. इधर उनको राष्ट्रपति पुरस्कार मिला, उधर रज्जू टाइफाइड में पड़ा था और घर में पैसे ऐसे गायब थे जैसे चील के घोंसले से मांस!

उस वक्त घर से तीखी कराहें निकल रही थीं. उन्हें बड़ी तल्खी से यह अहसास हुआ था उस वक्त कि राष्ट्रपति के पदक से बच्चों की हारी-बीमारी नहीं जीती जा सकती. पर भीतर एक कड़क मौजूद थी. बहादुरशाह की याद आ जाती उन्हें. आन की खातिर बादशाह ने अपने बेटे गंवा दिये. कंपनी बहादुर ने आजादी की कीमत के रूप में शहजादों के सिर काटकर थाल में सजाकर बतौर तोहफा बादशाह को भेंट में

■ कैलाश चंद्र
—एक अरसे निरंतर लेखन. विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कई रचनाएं प्रकाशित.
—"मेरी कहानी ही मेरा परिचय है."
—संप्रति : प्रशासकीय सेवा के तहत—तहसीलदार

प्रथम पुरस्कार प्राप्त लघुकथा

लंगड़ा

पवन शर्मा

एकदम सन्नाटा. . .कहीं-कहीं कुत्तों के भौंकने से सन्नाटा भंग हो जाता था. जहां-जहां बिजली के खंभे थे, वहां-वहां प्रकाश फैला हुआ था. बाकी जगह अंधेरा था. सन्नाटे को भंग करती उसकी बैसाखियां, और बैसाखियों पर झूलता वह आगे बढ़ रहा था. यही ग्यारह-बारह साल का लड़का था वह.

सामने बिजली के खंभे के प्रकाश में उसने देखा. कोई खड़ा है. मन-ही-मन घबराने लगा, लेकिन बैसाखियों पर झूलता वह आगे बढ़ रहा था. नजदीक जाकर देखा, उसी की उम्र का, मैले, कई जगह से फटे कपड़े पहने कोई लड़का है. मन थोड़ा शांत हो गया उसका.

"कहां से आ रहा है?" नजदीक आने पर लड़के ने पूछा.

"स्टेशन से."

"क्या कर रहा था वहां अभी तक?" लड़के ने फिर पूछा.

"कैंटीन में कप-प्लेट धो रहा था." निश्चित भाव से उसने उत्तर दिया, और आगे बढ़ने लगा. लड़का भी उसके बराबर हो लिया.

"कितना कमाया?" लड़के ने चलते-चलते अंधेरे में ही पूछा.

"सात रुपया. . .सुबह से अभी तक के. . .काम पूरा लिया." उसका चेहरा दयनीय हो उठा.

"तू झूठ बोल रहा है. सुबह से अभी तक के तो कम-से-कम दस का पत्ता होना था." सामने के बिजली के खंभे के बल्ब का प्रकाश उन दोनों के ऊपर आने लगा. पीछे उन दोनों की परछाइयां काफी लंबी थीं.

"सच में. . .सात ही दिये कैंटीन वाले ने." और सहज भाव से उसने हाफ पैंट की जेब में से एक-एक के मुड़े-तुड़े सात नोट दिखाये, और बोला, "अम्मा बीमार थी. इस वजह से मुझे ही काम करना पड़ा आज."

"दिखा. . .गिनकर देखता हूं. . .साले काम तो करवाते हैं, लेकिन पैसे पूरे नहीं देते." बिजली के खंभे के निकट पहुंचकर लड़का बोला.

"पूरे सात हैं." उसने कहा और रुपये लड़के को थमा दिये. लड़का रुपयों को गिनने लगा. एक. . .और एक नोट उसको पकड़ा दिया. दो. . .एक और नोट उसको पकड़ा दिया. तीन. . . फिर एक नोट उसको पकड़ा दिया. चार. . .वह हाथ बढ़ा ही रहा था कि लड़का भाग खड़ा हुआ. वह चौंक गया.

"ऐ. . .ऐ. . .मेरे रुपये तो देता जा." बैसाखियों के सहारे वह आगे की ओर बढ़ा. . .लेकिन लड़का अंधेरे में खो चुका था. विवशता से इसकी आंखों में आंसू आ गये. . .फिर. . .एकाएक गुस्से से इसके चेहरे पर तनाव आ गया, "साला. . .लंगड़ा. . . साला. . .दोनों पैर का लंगड़ा. . .साला. . ." □

● द्वारा : श्रीकृष्ण शर्मा, प्राचार्य, देलाखारी, छिंदवाड़ा (म. प्र.)

भेजे थे. पूरा प्रसंग उन्हें दोहों और कवित्त में याद था. सालाना जलसों में स्कूलों की प्रतियोगिताओं में वे गाकर सुनाया करते थे. सन्नाटा खिंच जाता था उस वक्त. ओज में डूबी उनकी आवाज जैसे हृदय को चीरती चली जाती थी. आंखों में खून लानेवाली घटना थी. . .

वे न जाने क्यों बाद के दिनों में बड़ी शिद्दत से सोचने लगे थे कि अभावों के थाल में उनके बच्चों की गर्दनें कटी-सजी रखी हैं और वे निर्निमेष शून्य में ताक रहे हैं. वे इतिहास की जलती सच्चाइयों की आग में भक्-भक् कर जल रहे थे.

बिल्कुल एकदम अकेले पड़ते हुए वे उस कड़ी दोपहर में उघारे सिर और नंगे पांव हड़बोंग में निकल पड़े. गली में एक छोर से दूसरे छोर तक सन्नाटा रिस रहा था. वे जैसे ही जुझार सुनार की बैठक के सामने से होकर गुजरे उन्हें किसी ने पुकार लिया. उन्होंने पलटकर देखा, सुंदर बानी खड़ा हुआ था.

"कचहरी का सिपाही बस-स्टैंड पर मिला था." कहकर वह प्रश्नवाचक बन चुप लगा गया. वे किटकिटा गये और गुस्से में उफनते हुए बोले, "दो महीने बाद की तारीख लगी है. बोली लगाने आ जाना."

पांवों में धरती गरम तवे-सी तप रही थी. पर एक दंश जो उन्हें भीतर ही भीतर वर्षों से टीस रहा था उसकी तुलना में पांवों की चुभन कुछ भी नहीं थी. सुंदर बानी हतप्रभ-सा उन्हें जाते देखता रहा फिर होठों में बुदबुदाने लगा, "सठिया गये हैं और कुछ नहीं. . . इत्ते वर्षों से कष्ट झेलते आ रहे हैं."

बट्टी बाई के घर से गली एकदम बायें मुड़कर चढ़ैया में तबदील हो जाती थी. लगभग फलांग भर बाद फिर एकदम उतार था. एक पतली तंग खोर और थी, जिससे सीधे चढ़कर जल्दी पहुंचा जा सकता था पर हड़बड़ी में उन्हें एकदम इसका ध्यान नहीं रहा. चढ़ैया पर नाबदानों का पानी बह रहा था. वे रफ्ता-रफ्ता कीचड़ में पांव सानते पूरी चढ़ैया एक ही रपेटे में चढ़ गये. उतार पर असरफ की तंबाकू की दूकान से आगे बढ़े तो कुतुबखाना के नीचे की मंजिल में एकदम सन्नाटा दिखा. आज छुट्टी का दिन तो नहीं, वे थोड़ा ठनके. फिर वे जैसे ही सीढ़ियां चढ़कर बरामदे में जाने को हुए किसी ने उनके पांव छू लिये. उन्होंने पहचाना नहीं. पांव छूकर वह सीधा खड़ा हुआ तो उसने बताया कि वह रमेश है. उनका पुराना शिष्य. शुगर इंसपेक्टर है और इन दिनों छुट्टियों में घर आया हुआ है. क्षणभर के लिए वे भीतर से गदगद होते हुए धूप की चिलक और गर्मी की हुंकार भूल गये. इसी श्रद्धा और सम्मान की खातिर तो उन्होंने पूरी जिंदगी मुफलिसी में बिता दी थी. अभावों और विपन्नता से लड़ते हुए उन्होंने आदर्शों की रक्षा की, पत्नी और बच्चों की महत्वाकांक्षाओं और छोटी-मोटी जरूरतों की आशाओं को कुचलकर वे नैतिकता का झंडा फहराते रहे. शान को छोड़कर आन पर डटे रहे!

उन्हें याद है, उनका एक शिष्य, मोहन जब डिप्टी कलेक्टर बना था तो ढेर सारी मिठाई लिये घर आया था. उसने साफ लकदक कपड़े पहने हुए थे. आते ही उसने उनके चरणों की धूल माथे पर चढ़ा ली थी और कहा था, "गुरुजी, आज जो कुछ भी हूं आपकी ही बदौलत. आप उस समय पढ़ाई में इतनी सख्ती न करते तो मैं कभी आदमी न बन पाता. गुरु ऋण कभी नहीं चुकाया जा सकता."

वे दोनों पौर में बैठे देर तक बतियाते रहे. उस दिन उन्होंने बड़ी खुशी मानी थी. भीतर से उन्हें गर्व महसूस हो रहा था. . . . उसी तरह जैसे कोई माली पौधे को सींच-सींचकर खरपतवार खोंटकर, खाद का लेप चढ़ाकर बड़ा कर देता है. वे आज सोचते हैं पढ़ाने के मामले में सचमुच बहुत सख्त थे. लड़कों की रूह कांपती थी उनसे. जो भी पिछला पाठ याद करके नहीं आया तो समझो उसकी शामत आयी. पढ़ाने का तो उनको जैसे खब्त सवार रहता था. दिसंबर से ही वे रात्रिकालीन कक्षाएं शुरू कर देते थे. पूरी कक्षा सात बजे शाम से ही उनकी ओसारी में लग जाती थी. दस बजे रात तक यहां खींचते. फिर चार बजे लड़कों को उठा देते. एक बाल्टी पानी आंगन में रख देते. सबेरे अलार्म बजते ही जो

कोई नहीं उठता उसकी रजाई खोलकर बाल्टी का चुल्लू भर पानी उस पर डाल देते.

कोई पढ़ने में ऊंघने लगता तो एक झन्नाटेदार तमाचा उसके गाल में पड़ता था. उनके विद्यालय का परिणाम जिलेभर में अव्वल रहता था हर साल. जितने छात्र बैठते सभी के सभी प्रथम श्रेणी में आते थे. मिडिल में बिरला ही कोई सेकेंड डिवीजन पास होता था. कुछ देर बाद जब मोहन उठकर चला गया तो मिठाई के डिब्बे लिये वे भीतर पहुंचे. जावित्री को उस वक्त जोर की खांसी उठी थी और उसने ढेर सारा खून मिला बलगम बिस्तर पर उलट दिया था. जावित्री की साफ-झक्क काया तपेदिक से झुलसकर काली पड़ गयी थी. इलाज बहुत लंबा था और महंगा भी. डाक्टरों ने भोजन में फलों और दूध का प्रचुर प्रयोग बताया था. उन्हें सहसा लगा कि मिठाई का डिब्बा नाली में फेंक दें. उनके हाथ कांपने लगे थे. . . और उन्हें गश-सा आ गया था. कुछ देर पहले उग आया गर्वभाव अचानक फुर्र-से सरक गया था.

उन्होंने एक क्षण को दुखद स्थितियों भरी स्मृतियों को अलग किया. रमेश जा चुका था. तार बाबू की खिड़की पर कोई नहीं था. वे आगे बढ़े और बोले, "चार तार फार्म." तार बाबू ने कहा, "चार!" और फार्म उनके हाथों में थमा दिये. उन्होंने जेब से कलम निकाल ली और तार फार्मों पर घसीटा—'कम वेरी सून.' रज्जू, बीरेन मंटू और प्यारे सभी को एक-एक तार ठोंक दिया. रसीद लेते उनका तनाव काफी हद तक खत्म हो गया था. वे आश्वस्तिपूर्ण मुद्रा में इत्मीनान से बरामदे की सीढ़ियां उतरे और चिलकती धूप में जा खड़े हुए. धूप यकायक उन्हें बहुत कड़ी लगने लगी थी. फिर उन्हें जैसे कुछ याद आ गया. वे वापस सीढ़ियां चढ़कर बरामदे में पहुंच गये. तार की अपर्याप्त भाषा का भान उन्हें हो आया था. पर अब भला क्या हो सकता था. इतने से वे लोग भला क्या समझेंगे कि क्यों बुलाया है. तार में बेकार ही तेरह रुपया पच-हत्तर पैसा बरबाद कर दिये थे. उन्हें दरअसल, चिट्ठी ही लिखनी चाहिए थी पूरा ब्योरा देते हुए—उन्होंने बेहद पछताते हुए चार अंतर्देशीय पत्र खरीद लिये और वहीं चिट्ठी लिखने लगे.

वे हड़बड़ी में काम बिगाड़ लेते हैं फिर देर तक पछताते रहते हैं. उन्होंने अपनी जिंदगी के अतीत की तरफ मुड़कर देखा तो सिवाय पछतावों और अफसोस के उन्हें कुछ नहीं दिखा.

डाकखाने से लौटे तो अकेलेपन का अहसास इतना घना हो गया था कि वे अकुलाने लगे. पूरी दोपहर करवटें बदलते रहे. सुबह से एक दाना अन्न का भीतर नहीं गया था. यह अकेलापन आज से नहीं बरसों से उनके साथ चल रहा है. जब से जावित्री की मौत हुई है तभी से उन्होंने अपने को अकेला, बेहद अकेला पाया है. वे एकदम टूटते चले गये लगातार एक क्रम में जैसे किसी इमारत की एक-एक ईंट धराशायी हो रही हो. . . .

जावित्री की मौत एक दुर्घटना थी.

लंबी बीमारी ने उसके शरीर से खून के एक-एक कतरे को चूस लिया था. उसकी गोरवर्णा देह लकड़ी के जले कुंदे-सी काली और सख्त पड़ गयी थी. वे भी उन दिनों रिटायर हो गये थे. म्यूनिस्पैल्टी का स्कूल था, मामूली-सी ग्रेच्युटी मिली थी, पेंशन का तो खैर सवाल ही नहीं था. गनीमत यही थी कि लड़के सभी हिल्ले से लग गये थे. पर क्या उनका यही ढंग से हिल्ले लगना था. महीने भर जारी रहती किल-किल और घिसटता हुआ घर का बजट, चितासनी सूखती नदी-सी होती देह, फिर साल-दर-साल बढ़ती बच्चों की पैदाइश. मामूली-सी नौकरियां और अपने को खुशकिस्मत कह सकते थे, क्योंकि बहुतों को तो यह भी नसीब नहीं था.

जावित्री को देखकर वे दहल-से जाते थे. उसकी तीमारदारी करते उनके हाथ कांपने लगते थे. आदर्श शिक्षकवाला गर्व डगमगाकर बुरी तरह चकनाचूर होने लगता था. उन्हें लगता वे अभी तक सिर्फ खुद को छलते रहे हैं. शिक्षक को धन से नहीं, मान-सम्मान से तौलने की उनकी उक्ति मरे हुए सांप की तरह उनके जेहन में झूलने लगती थी. चरित्रवान बालकों की पौध तैयार करने की उनकी योजना उन्हें मुंह चिढ़ाने लगती थी. इस आदर्श के पीछे उन्होंने परिवार को क्या दिया. क्या दे पाये वे, सिर्फ पल-पल बढ़ती मौत के सिवाय? जावित्री का इलाज करवाने और गृहस्थी की गाड़ी खींचने के लिए उन्होंने ट्यूशनें तलाशीं. पर यह इतना आसान नहीं था. सारी शिक्षण संस्थाएं व्यापारिक संस्थानों में बदल गयी थीं. जगह-जगह मांटेसरी, नर्सरी, निकेतन और सेठों तथा जाति के नाम पर स्कूल खुल गये थे. रिक्शा, आकर्षक यूनिफार्म और महंगी फीसों ने एक गला-काट प्रतियोगिता इनके बीच आरंभ कर दी थी. जो अभिभावक अपने बच्चों को शिक्षा दिलायेगा वह उसके पास होने की गारंटी भी चाहेगा. जाहिर है यह गारंटी वही शिक्षक प्रदान कर सकता है जो वहां पढ़ाता भी हो.

वे हर जगह भटके पर दो-चार ट्यूशनों से ज्यादा का जुगाड़ नहीं कर पाये. उनके मुहल्ले में ही तीन शिशु विद्यालय खुल गये थे. उन्होंने वहां काम पाने की कोशिश की पर असफल रहे. वे वर्तमान स्कूलों के लिए अप्रासंगिक हो चुके थे. वे उस जमाने के शिक्षक थे, जब बालकों को सवाया-ड्योढ़ा रटने पड़ते थे. मोटा अर्थमैटिक चलता था उन दिनों जिसके सवाल देखते ही रूह फना हो जाती थी. वे शिक्षा के उस कठिनतम दौर से गुजरे थे और इस नाजुक दौर के लिए नाकारा हो चुके थे.

आखिर एक दिन अचानक बीरन अम्मा को देखने आ पहुंचा. फिर मां-बेटे में पता नहीं क्या खुसुर-फुसुर हुई कि शाम को ही पुटलिया बंध गयी. और जावित्री साथ जाने के लिए तैयार. बीरन ने उन्हें सूचना भर दी, "अम्मा साथ जा रही है." वे हड़क गये, "इत्ता सफर कर लेगी? यहां क्या तकलीफ है, पूछो तो अपनी अम्मा से."

जवाब में जावित्री ने कहा, "यहां हमारा दम घुटता है. दूसरी जगह शायद कुछ दिन और जी जाऊंगी. . ." फिर देहरी लांघते भीतर की तरफ मुड़कर फफककर रो पड़ी थी जावित्री जैसे यह घर अब हमेशा के लिए छूटा जा रहा हो! उनकी तरफ देखकर दो शब्द भी उसने नहीं उच्चारे. ऐसी निष्ठुर बनकर जावित्री चली गयी. वे एकदम सकते में आ गये, उंगस कर रह गये. हफ्ते भर तक तो विश्वास ही नहीं हुआ कि इस घर को छोड़कर जावित्री हमेशा-हमेशा के लिए चली गयी है और अब वे कभी उसका मुंह नहीं देख पायेंगे. उन्हें अचानक एक दिन बड़ी शिद्दत से महसूस हुआ कि घर भर गया है. कमरों में न जाने कितना अंधेरा भरा है. दीवारों में कांटे उग आये हैं. और आंगन में बेपनाह फिसलन बढ़ गयी है. फिर शायद महीनों बाद बीरन की चिट्ठी आयी थी, एक छोटी-सी संक्षिप्त चिट्ठी—'अम्मा नहीं रहीं.' जो तारीख पड़ी थी उसके मुताबिक जावित्री को मरे आज दो महीने पूरे हो रहे थे. वे जावित्री के क्रियाकर्म में शामिल होने से भी महरूम कर दिये गये थे—अनायास ही. शायद बीरन ने उन्हें इस तरह आघात पहुंचाया था.

कोई फूल सूखकर डाली से चुपचाप झर जाये, जावित्री की मौत ऐसी ही थी. उस रात वे बिलख-बिलखकर रोये थे. घर अब एक सड़े मुरदे की तरह गंधाने लगा था. सारी सुबहें झुलस गयी थीं और सांझ की सुरमई बुझ गयी थी.

गुजरते वक्त को कौन थाम सकता है. एक माह का समय बीत गया था. वे चिट्ठियों का विकट इंतजार कर रहे थे. डाकखाने का चक्कर लगाते रहे. सूनी गली को हेरते रहे. पर व्यर्थ था सब कुछ.

उन्होंने बालकों की एक छोटी-सी पाठशाला खोलने की कोशिश की थी. कुछ आधार हो जाता जिंदा रहने के लिए और यह निष्ठुर तथा कठिन समय भी कट जाता. गरज यही थी. पर मुहल्ले में मांटेसरी स्कूल खोलनेवाले विधाताओं में खलबली मच गयी. उनके बीच ही आपसी स्पर्धा कम नहीं थी. पर उनसे सभी खौफ खा गये. अलग-अलग रहनेवाले वे सभी उनके खिलाफ एकजुट हो गये.

उनका 'आदर्श बाल मंदिर' धड़ल्ले से चालू हो गया था. वे तड़के उठकर छोटे-छोटे बच्चों को उनके घरों से बटोर लाते थे. मुहल्ले के

दूसरे छोर पर नीचे तबके के लोग रहते थे, उनके लड़कों को वे खासतौर पर बटोर लाते थे. इससे अच्छी-खासी भीड़ उनके विद्यालय में होने लगी. नीचे तबके के लड़के दिन भर आवारागर्दी करते थे, ऊंची फीस के कारण मांटेसरी स्कूलों में उनको दाखिला दिलाना उनके अभिभावकों के वश का नहीं था. सबसे बड़ी बात ये कि अभिभावकों में स्वयं शिक्षा की समझ मौजूद नहीं थी. उन्होंने उनके बीच बैठकर उन्हें बड़ी मुश्किल से तैयार किया था. अब एक निपट गंवार नयी पीढ़ी उनके बाल मंदिर में मौजूद थी और वे एक ध्येय के साथ जुटे थे.

उन दिनों उनके भीतर उछाह उमगता रहता था. वे जावित्री को भूलने की कोशिश में बच्चों में खोये रहते. उन्हें लगता जैसे उनकी जिंदगी फिर लौट आयी है.

श्यामपट के सामने खड़े हो जब वे नौनिहालों को अक्षर ज्ञान कराते तो उन्हें महसूस होता जैसे वे पूरे समाज की धड़कनें सुन रहे हों. नीचे तबके के उनके पढ़ाये लड़के जैसे सामाजिक जड़ता को तोड़कर अपने पैरों पर खड़े हो गये हों. उनके भीतर का आदर्श भाव फिर हरिया आया था.

एक दिन शाम के समय माधव बाबू आये. आढ़त का धंधा था उनका. दो दाल मिलें थीं. उनकी संपन्न और समर्थ लोगों में गिनती होती थी. उन्हें देखकर वे थोड़ा अचकचाये, सूरज पश्चिम से उग आया है. आज माधव बाबू बहुत मीठा बोल रहे हैं, बिल्कुल मिसरी जैसी बोली थी उनकी, मीठी और प्यारी. बोले, "हम तो आपकी सहायता करने आये हैं शिवसहाय जी."

वे हतप्रभ होकर बोले, "सहायता. . . कैसी सहायता ? मैंने तो किसी से कोई सहायता नहीं मांगी."

"आपने नहीं मांगी पर हम तो देने आये हैं. इस अकिंचन को आप निराश न करें."

उन्होंने हाथ जोड़ लिये, "आप शर्मिंदा न करें सेठजी, साफ-साफ बोलिए कि क्या बात है?"

"आपके बालमंदिर के लिए हम दो हजार रुपयों की सहायता राशि प्रदान करने आये हैं ताकि आप फर्नीचर वगैरह खरीद सकें." उन्होंने विनम्रता में डूबकर कहा.

वे चुप बैठे रहे. समझ नहीं पाये कि अचानक यह उदारता माधव बाबू में कैसे पैदा हो गयी. माधव बाबू ने उन्हें अधिक देर तक अंधेरे में नहीं रखा, "हमारी एक छोटी-सी विनय है शिवसहायजी, यह आदर्श शब्द हटाकर बालमंदिर के आगे हमारे पूज्य पिताजी बालकदास का नाम रख दें. हम आपका यह पूरा घर पक्का बनवा देंगे."

वे सहज ढंग से कहे चले जा रहे थे. शिराओं का सारा खून जैसे उनकी खोपड़ी में एकत्र हो गया. . . लगा कि चिल्लाकर कह दें, 'निकल जाओ यहां से, तुम शिक्षा को खरीदना चाहते हो' . . .पर कह नहीं पाये. हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले, "सेठजी, मैं आपकी तरह व्यापारी नहीं हूं. नफा-नुकसान की बात बहुत नहीं समझता. यह बाल मंदिर अकिंचन बना रहे इसी में मुझे संतोष है. माफ कीजिए, मैं कोई सहायता स्वीकार नहीं कर पाऊंगा."

पर माधव बाबू डिगे नहीं. विनम्रता की प्रतिमा बने समझाते रहे, "आपने बहुत कष्ट झेले हैं शिवसहायजी. कौन नहीं जानता आपके स्वाभिमान को और विद्यालय के प्रति आपकी अगाध लगन को. ऐसे शिक्षक आज हैं कहां जो शिक्षा के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगाकर उत्सर्ग कर दें. पर बिना साधन के शिक्षा लंगड़ी है. आप जो इल्म देते हैं, उसके बदले में समाज का भी तो कुछ कर्त्तव्य है कि आपको आर्थिक दृष्टि से सक्षम बनाये. . . है न?"

"आप या आप जैसे लोग कृपा बनाये रखें यही बहुत है. अभावों में रहना तो अब जीवन बन गया है. वह अब तोड़ते नहीं हैं. आदत ही पड़ गयी." उन्होंने अटक-अटक कर कहा.

माधव बाबू जब उन्हें आखिरकार किसी तरह नहीं मना सके तो उठकर खड़े हो गये और जाते-जाते मीठे स्वर में बोले, "ये सब आपको महंगा पड़ेगा. अच्छी तरह सोच लें. फिर हमें बतायें. आपके लिए हमारे द्वार हमेशा खुले मिलेंगे."

माधव बाबू चले गये और शायद एकाध हफ्ता उन्होंने उनके आने का इंतजार भी किया. जब निराश हो गये तो नाकाबंदी चौकस कर दी. मुहल्ले के तीनों शिशु विद्यालय अचानक उदार हो उठे. दोपहर के नाश्ते में मुफ्त टाफियां, मूंगफली, केले वगैरह बांटे जाने लगे. फीस माफ कर दी गयी. मुफ्त यूनीफार्म और किताबें विद्यालय में नाम लिखानेवाले बालकों को देने की घोषणा कर दी गयी. पंद्रह दिन बाद उनके विद्यालय में चिरई का पूत भी न बचा. भीतर श्यामपट और बाहर 'आदर्श बालमंदिर' का पट बस यही दो चीजें भर बची रह गयीं उनके पास. वे फिर नये सिरे से सन्नाटे में जीने लगे. घुटते घर में उन्हें फिर जावित्री के खयालों ने जकड़ लिया.

तार और चिट्ठियां भेजकर वे सोचते थे कि लड़कों का कुछ न न कुछ जवाब जरूर आयेगा. वे सभी के सभी घर से एकदम असंपृक्त न हो जायेंगे. पर चारों के चारों सोंट खींचकर रह गये. चिट्ठी का जवाब तक नहीं दिया किसी ने. डेढ़ माह का समय निकल गया था.

घर को एक पौधे की तरह रोपा था उन्होंने. आंधी में इस तरह एक ही झटके से इसका उखड़ जाना वे सह नहीं सकते थे. वे टकरा रहे थे उन दुर्निवार स्थितियों से जो यातना की मुद्रा में जुड़ी उनके स्वाभिमान की बुर्जियों को ढहा देने का उपक्रम कर रही थीं. जिंदगीभर तो उन्होंने कभी किसी से कोई ताल्लुक नहीं रखा था. वे नहीं जायेंगे किसी से कुछ कहने. उन्होंने निर्णय तो ले लिया पर तभी से गीली लकड़ियों की तरह धुंधुआ रहे हैं. रात को सहसा अंधेरे ने जावित्री के धुंआरे चेहरे का रूप ले लिया. और वह चेहरा थोड़ी देर बाद कराहों में बदल गया फिर अंधेरे में चारों ओर से आवाजें उठ लगीं— 'तुम लड़कों को पढ़ा-लिखाकर उनमें चरित्र भरने का दम भरते हो, उन्हें योग्य बनाने के लिए रातों को आंखें फाड़ते थे. तुम्हें ये गरूर था कि तुम एक पवित्र पेशे में लगे हो. पर जानते हो बदले में तुम्हें क्या मिल रहा था—अभाव, बीमारी और कटुता! . . . . और जानते हो तुम्हारे अपने ही लड़के पढ़ने में लद्दड़ निकल रहे थे. उनके पास पहनने लायक कपड़े-लत्ते, जूते नहीं थे. वे ठीक से खा-पी भी नहीं सकते थे. गंदे लड़कों के साथ वे गाली सीखकर आते थे और आपस में लड़ते थे. तुम्हें उन दिनों कुछ नहीं लगता था. कैसे बाप थे तुम. कैसा तुम्हारा वजूद? . . . . ' सारा घर उन्हें जैसे उलाहने फेंकता-सा लगा था.

उन्होंने अपने कानों में उंगली डाल ली, पर गुजरे हुए अहसासों की कसक कम नहीं हुई. ये उन दिनों की बातें हैं जब घर की ईंटें खोखली हो गयी थीं और नींव में पानी भर गया था, दीवारों से सर्द अंधेरा झरने लगा था. बीरन को अब डबल निमोनिया हो गया था और वह जीवन-मृत्यु के झूले में झूल रहा था. एक शिक्षक का जीवन पानी के बुलबुले की मानिंद होता है, जो इतने चुपके-से फूट जाता है कि किसी का भी ध्यान उसकी तरफ नहीं जा पाता. आदर्श और नैतिकता भरा जीवन कितना प्रताड़ित होता है! कितने निमोनिया, मलेरिया, ब्रोकांइटस, प्लूरिसी, टी.बी. इस जर्जर जीवन को घेरे रहते हैं. घर जो सुरक्षा और सुकून होता है, कर्ज से कैंसर ग्रस्त हो हर पल करीब आती मौत की आहट से आतंकित रहता है. वे धुंधआते-गुंगवाते रहे और हफ्ते भर का समय और निकल गया. वे हवा में हाथ भांजते गुस्से में भरे रहे-हवा भरकर रह जाती. वे वक्त को कोसते और एक सघन बेचैनी उनके भीतर भरने लगती एक दुर्निवार छटपटाहट उनकी देह की बूढ़ी बुर्जियों को ढूहाने लगती. एक डरावना खयाल उन्हें डरा देता. घर-घर . . . जब नहीं रहेगा ये घर तो वे रहेंगे कहां? लड़कों के पास? उन्होंने तो बर्षों पहले ही उन्हें अपराधी करार दे दिया था! उस स्थिति में वे रह पायेंगे उनके पास या फिर माधव बाबू जैसे किसी अमीर के आगे उन्हें गिड़गिड़ाना पड़ेगा. विकट स्थितियों का चक्रव्यूह उन्हें घेरे था. रथ का टूटा पहिया हाथों

में था और वे एक निर्थरक बचाव के लिए खड़े थे. वे क्या बचा पायेंगे अपने आपको? एक असमर्थ जोश भर उनकी नसों में फनफना रहा था.

मुहल्ले में जोरों से कानाफूसियां चालू थी. कुछ लोगों ने मकान की कीमत का अंदाज लगाकर बोली तय करना शुरू कर दिया था. एक दिन दोपहर के समय कुछ अपरिचित लोग आये थे. . . . और दरवाजे के सामने खड़े हो बतियाने लगे थे. . .

"पंद्रह हजार से ज्यादा का नहीं."

"हूंह इत्ते भी बहुत हैं."

"बस मौके पर है. बाजार, स्कूल बस स्टेंड सब पास है." तभी उन लोगों की निगाह दीवार पर लटकते बोर्ड पर पड़ी, "ये कैसा बोर्ड है? किसी मास्टर का मकान मालूम पड़ता है."

"हां. तभी तो बिक रहा है, किसी साहूकार का बिकेगा क्या?"

फिर किरचों-सी धारदार हंसी झन्न-से बिखर गयी. वे भीतर बैठे सब सुन रहे थे. खोखियाकर अड़ने का मन हुआ—'सुसरे काली कमाई से रईस बने हैं. सिर आसमान पर टंग गया है.'

फिर एक दिन गुजरने के साथ ही उनकी बेचैनी अगाध रूप से बढ़ती रही. एक रोज दोपहर में सहसा उनके दिमाग में कौंधा—रमेश, हां रमेश उनकी मदद कर सकता है. उसकी गुरुभक्ति देखते ही बनती है. दूर से देखता है तो दौड़कर पांव छू लेता है. सड़क, बाजार, डाकखाना कहीं भी वे उसे दिख भर जायें. गुरु ऋण चुकाने का समय आ गया है. वह इशारे से कह भी चुका है कि किसी मदद की उन्हें जरूरत हो तो बतायें. वे अब बतायेंगे. वह शुगर इंसपेक्टर है, कुछ ऊपरी कमाई भी होगी. वे धीरे-धीरे उसका कर्जा उतार देंगे. यह करजा भी जिसके एवज में मकान नीलाम हो रहा है. उन्होंने बीमारी, फीस, शादी-ब्याह आदि के लिए लिया था और इसी संकल्प के साथ लिया था कि वे धीरे-धीरे सब पटा देंगे. पर वह संकल्प अभावों के महासमुद्र में न जाने कहां खो गया और वह कर्जा दिन-ब-दिन सुरसा के मुंह की तरह बढ़कर विकराल होता चला गया. पर न जानें क्यों, इस क्षण वे बेहद उत्साहित हो गये थे. आशा में भरे वे भरी दोपहर उठकर खड़े हो गये और जल्दी-जल्दी कुरता पहना. पाजामा सरकाया और रमेश को खोजने के लिए तैयार हो गये. उन्हें शाम होने का इंतजार करना असह्य लग रहा था. वे जल्दी से जल्दी रमेश को ढूंढ लेना चाहते थे. वे हड़बोंग में यह भी भूल गये कि रमेश डेढ़ माह पहले छुट्टियों में घर आया था. अब वापस अपनी नौकरी पर चला गया होगा. उन्हें कायदे से उसके रहने का ठिकाना भी नहीं मालूम था. जब वह पढ़ता रहा होगा तब उन्होंने उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था. उसी ने पहले-पहले उनके पांव छूकर अपना परिचय उनके शिष्य के रूप में दिया था. लेकिन वे इस प्रत्याशा में निकल पड़े कि कहीं शायद वह अचानक टकरा जाये..

वे उस गर्म हहकती दोपहर में रमेश की तलाश में निकल पड़े और सबसे पहले डाकखाने पहुंचे. पर वहां रमेश नहीं था. वे काफी देर बरामदे में यों ही खड़े रहे कि शायद वह आता हो. आशा में टंगे वे उसकी बाट हेरते रहे. जब बहुत देर हो गयी तो सोचने लगे कि अब वे कहा ढूंढें रमेश को? कौन है यह रमेश जो उनके जेहन में इतनी शिद्दत से जम गया है?

एक दिन उनकी यह तलाश रंग लायी. अचानक रमेश उनको अस्पताल के चौराहे पर दिख गया. उसके साथ में एक महिला भी थी. रमेश अस्पताल के आउटडोर से निकल रहा था. वे पास पहुंच गये यह जताने के लिए कि उससे अचानक भेंट हो गयी है. पर वह उनको बिना देखे पास से गुजर गया. और रिक्शा पर चढ़ने लगा तो वे बिकल हो उठे और उन्होंने बांग दे दी, "रमेश, रमेशजी! . . ."

उसने मुड़कर देखा उन्हें और उनके पांव छूने के लिए दौड़ा. उन्होंने उसे बीच में ही लपक लिया.

"यहां कैसे गुरुजी, कोई बीमार है क्या?"

वे एक ही सांस में थूक गुटककर बोले, "एक काम था भाई, वो तुम्हीं कर सकते हो. तुम्हारे गुरु पर संकट आया है."

रमेश उत्साह में भरकर बोला, "कोई दिक कर रहा है क्या आपको, बोलिए तो साले की आंखें निकाल दूं."

वे बांह पकड़कर अत्यंत कातर स्वर में बोले, "नहीं बेटा, बात दूसरी है. हमारे ऊपर कुछ कर्जा हो गया था. लड़कों और औरत की बीमारी में हमने कुछ कर्जा लिया था. हम उसी बीच रिटायर हो गये. कर्जा पट नहीं पाया. हफ्ते-भर बाद हमारा मकान उसी कर्जे के एवज में नीलाम होना है. तुम कुछ मदद कर दो बेटा तो हमारा मकान नीलाम होने से बच जायेगा. वरना फिर तुम्हारे गुरु के पास रहने का भी कोई ठिकाना नहीं है." उनका गला रुंध गया. पर रमेश को जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो पर इजहार नहीं किया. उसे लगा कि यहां उनके सामने खड़े रहना एक कठिन परीक्षा है और और यहां से जल्दी से जल्दी फूट लेने में ही उसका कल्याण है, "मैं गुरुजी, इस बारे में आपसे बाद में बात करूंगा. भाभी मेरे साथ हैं. बैठे-बैठे वे बेहोश हो जाती हैं. डाक्टरों ने बड़ी सख्त बीमारी बतायी है. अभी मैं जल्दी में हूं, बाद में बात करेंगे."

रमेश रिक्शे में बैठकर चला गया. वे खड़े के खड़े ही रह गये कुछ देर. भीड़ इस कदर चारों तरफ से गंस गयी पर उन्हें होश नहीं रहा. भीड़ के मकड़जाल से छूटते वे गहरी निराशा में भर गये थे. वे मरे कदमों से घर लौट आये. पर एक आशा उन्हें जिलाये रही कि रमेश ने बाद में बात करने का आश्वासन दिया है. उनकी तलाश जारी रही—गलियों, चौराहों, बाजार, पान की दुकानों, सिनेमाघर, जहां-जहां वे उसके होने की संभावना कर सकते थे, सब जगह वे रमेश की तलाश में बदहवास से भटकते घूमते दिन-दिन भर एक गहन प्रत्याशा में भरे हुए.

उस दिन के बाद फिर रमेश उन्हें नहीं दिखा. पर कई बार उन्हें भ्रम हुआ कि सामने से रमेश चला आ रहा है और उन्हें देखते ही कन्नी काटकर निकल गया है उनसे अपना बचाव-सा करता हुआ. वह दौड़कर अब उनके पांव नहीं छूता बल्कि मन में कोई अव्यक्त विरक्ति लिये कतरा जाता है उनसे. . . वे आनेवाली कठिन और लतियायी जिंदगी की बारहखड़ी बांचते रमेश को खोजते फिर रहे हैं, पर रमेश उन्हें मिल नहीं पा रहा है. शायद कन्नी काटनेवालों का नाम रमेश है. आप गुरुवर अभावग्रस्त और बेसहारा हैं, इसलिए आपसे सभी कन्नी काट रहे हैं. . . आपसे सभी ने लिया पर आपको कोई छदाम भी वापस नहीं करना चाहता. . . समाज आप पर दया उड़ेलने के सिवा और कुछ नहीं करना चाहता है गुरुवर. . . आप किस फेर में पड़े हैं गुरुजी. . .

बाद के दिन तो फिर रबड़ की तरह सिकुड़ गये. रमेश की अनवरत तलाश ने उन्हें थका-सा डाला. वे एक पोची आशा लिये भटकते रहे और हर झुटपुटे में बांहभर अंधेरा अगोरते घर लौटकर आते रहे.

दूसरे दिन नीलामी होनी थी. सांझ को सुंदर बानी बता गया कि कुर्क अमीन अपने अमले के साथ आ गया है. माधव बाबू की उससे बात हो गयी है, शायद वे ही यह मकान बोली में खरीद लेंगे. उस पूरी रात आंधी और तूफान की आवाजें उन्हें डराती रहीं, हालांकि आसमान पूरी तरह साफ था और हवा एक पत्ता तक नहीं खड़का रही थी. रफ्ता-रफ्ता आंखों में ही पूरी रात कटी.

वे उठे और नित्यकर्मों से फारिग हुए और बहुत आहिस्ता-से उन्होंने बाहर का दरवाजा खोला. गली में झांककर देखा. पीतल की चपरास लगाये चपरासी उनके चबूतरे पर मेज-कुर्सी जमा रहा था.

वे तैयार होकर बाहर निकल आये और कुछ रौब से चपरासी से बोले, "क्यो, तुमने रमेश को देखा है? अभी काम रोके रहो. वह आता ही होगा." चपरासी ने उचटती निगाह उन पर डाली और बिना कुछ बोले अपने काम में लगा रहा. पर वे नये सिरे से आशा में बिंधे रमेश की तलाश में निकल गये. आखिरी क्षणों में जबकि सब संभावनाएं निःशेष हो गयी थी. उनके मन में भरी आशा गजब की थी और उनके कदम तेजी से तेज और तेज चल रहे थे. □

● तहसीलदार, तहसील त्योंथर, जिला रीवां (म. प्र.)

द्वितीय पुरस्कार विजेता कहानी

सिंघाड़े की बेलि

बलवीर लोकेश

'सच्चे प्यार की बात ही कुछ और है . . . सच्चे प्यार के बीच कुछ आ ही नहीं सकता . . . यहां तक कि भगवान भी.' कौन है यह आदमी, जो बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी ईमानदार जिंदगी के सपने देखता है. . . ?

वही ठिया छप्पर भी वही, नीम के बिरवा जरूर पेड़ बन गये. परिंदे भी वही सब के सब जाने-पहचाने किंतु पता नहीं क्यों, झंडू का मन ऐसा वैसा कैसे रहने लगा. जब दुनिया ही बदल गयी तो झंडू भगत का मन कैसे पत्थर की लकीर रह जाता! हर समय चिहुंकनेवाली डल्लो को देखो कैसी अंधी-गूंगी-बहरी पत्थर की मूर्ति बनी है. हर वक्त किसी न किसी बहाने झंडू के चक्कर काटने वाली डल्लो अब गुम्ममथान हुए नीची दे अपनी झोपड़ियों की ओर ऐसे निकल जाती जैसे श्मशान की ओर अर्थी. झंडू सोचता आदमी का मन दरख्त की टहनी नहीं जिसे जी चाहा मोड़ दिया, सिंघाड़े की बेलि नहीं मनचाहा रुख कर दिया. वाह डल्लो! तेरे क्या कहने ठहाका मारकर हंस पड़ा, "सौ मूसे खाय बिलईया हज्ज कू चली!"

एक अरसा हो गया टोकरे पर झुके-झुके झंडू की पीठ दुहरा गयी. ऐ! डल्लो लगती है. बुनाई पर थामते-थामते नजर भी तो धुंधला गयी. आये दिन चूल्हा भी तो फूंकना पड़ता. चूल्हे का कड़वा धुआं ही पी गया बीनाई. शायद वही है. एक हाथ में टहनी दूसरे से आंख दबा फतीं से खोली, हूबहू डल्लो है. सीधे ठिए की सुधि बांधे है. खांसकर झंडू ने सुर भरा "आं. . . अ. . . इ. . . "आ गयी.

"अब तो बड़े . . .बड़ों से यारी जी. . . "डल्लो यह गयी वह गयी पत्ता तोड़ गयी. अरे! यह भूल तो नहीं गयी? बोल कर देख, बोलने में कुछ बुराई थोड़ेई है. पूछ लूंगा, क्या छोटा हो जाउंगा? प्यार में छोट-बड़ाई क्या? पूछे किससे, डल्लो तो पहुंची काली कोसन.

झंडू को कोध आ गया, यह औरत जात ही ऐसी है. किसी ने वैसे ही थोड़े कह दिया. तिरिया चरत्तर जाने न कोई. . . जब खसम की हां ना हुई तो और किसकी. . . चलो अच्छा ही हुआ, जल्दी आंख खोल दी वरना. . . झंडू! तू अब कुछ जतन करे तो ही क्या? ना बोलती मत बोल! हम ही कहां बोलते हैं किसी से! जब की बात कुछ और है, अमोल थे और वह भी. . . ठीक है यह तो मरजी का सौदा है. तू अपने घर हम अपने. फिर इसमें बुरे मनाई की कौन बात है? अरे! हमारे पुरखे तो तीर-तलवार चलाते एक दूजे का खून बहाते कुरुछत्तर के मैदान में, पर सांझ को तो वे भी मिल बैठ बतिया लेते, तू उनसे भी बड़ी हो गयी?

पड़ोस में गयी होगी. अब लौटेगी, तब लौटेगी, लौटेगी जरूर, बस तो जायेगी नहीं. अरे! वह आयी, यह आयी, अभी छिन में ही झंडू नैकने सुर में रागा :

अब तो बड़े-बड़ों से यारी जी.
हम तो दिये बिसारी जी. हम तो. . . दिये. . . बिसारी जी.
अब काहे को सुनने लगी डल्लो.

वह भी समय था, बरखा रुत में झंडू भगत जमींदार लाला चिरंजीलाल की जोहड़ी में सिघाड़े बोता. बाकी समय में अपने धीवर टाले के नुक्कड़ पर छोटे-छप्पर आगे पीढ़ा बिछा जम जाता. नीमड़ी नीचे, अरहर बाड़ी, शहतूत की मुलायम-मुलायम टहनियों से टोकरा-टोकरी बोइया बुनता. झंडू बड़ा हंसोड़ रंगीन किसिम का आदमी था. रोते को भी हंसा देता ताऊ झंडू. लंबा-तगड़ा भरी-देह पूरी मूछों वाला झंडू गल-मुच्छों को गालों पर गांठ लगाये बुनते-बुनते जब कभी नजर ऊपर उठाता, लगता उसकी निगाह कुछ टटोल रही हैं. हर वक्त आंखें सुर्ख रहतीं उसकी. गामैती कहते पूरी बोतल के नशे में रहता है झंडू.

गली के उस पार बिल्कुल ठीक सामने नाई टोले में डल्लो की झोपड़ियां थी. वह दिन आज तक नहीं भुला पाया झंडू, जब डल्लो ब्याहली आयी थी. उसके डोली के कहारों में वह भी एक था. झंडू ने चुपके से पर्दा हटाकर क्या देखा, काले केशों के बीच दूई-चांद सा मुखड़ा. लगा, कारे बादरों में बिजूरी कौंध गयी. एक बारगी झंडू की भगताई भी डोल गयी थी उस दिन.

डल्लो की उस जमाने में पूरी हवा थी. केसर का-सा रंग, शरबती आंखें, नाक सुआ-सी, मुंह बटुआ-सा, भरवां गाल, उठवां छाती गांव-गढ़ी में अकेली डल्लो के चर्चे. झंडू डल्लो का हमउम्र था, फिर वह उसके आदमी से छोटा भी तो था. पड़ोसी होने का भगत ने पूरा फायदा उठाया. कई कामों के लिए डल्लो इधर-उधर जाती, झंडू बुनाई करते हुए बातों के लच्छे उछाल देता. डल्लो बहुत कोशिश करती हंसी थामने की. भगत फिर कोई फुलझड़ी छोड़ देता, आखिर खिलखिला पड़ती डल्लो झंडू का रोम-रोम खिल उठता.

वह समय ही कुछ और था. तब गांव गुलजार था. गांव के कारिंदे ऐसी-ऐसी नफीस चीजें बनाते कि कुछ मत पूछो. मोरा का-सा गाढ़ा बुनने वाला तो पैदा ही नहीं हुआ आज तक अरे पन्नू ऐसे-ऐसे रंग लगाता कपड़े को, आदमी देखता रह जाता. उसकी सत-रंगी ओढ़नी गांव की हर ब्याहली को जाती. काली-कलूटी बहुरियां भी हूर-परी हो जाती.

जब डल्लो ने वह ओढ़नी ओढ़ी झंडू की आंखों में कितने ही इंद्र धनुष खिंच गये थे उस दिन! अब टहलुवा के नाम पर बचा ही कौन है गांव में? एक-एक कर सब परदेशी हो गये मेरे बीरा. पैसे के लैन में लगे हैं सबके सब. वह भी अपनी बात और भूम्म की पत रखने को ही खींच रहा है गाड़ी, वरना कोई टके बार मांग पूरी करने के चक्कर में उसे बनना पड़ जाता. डल्लो ही बदल गयी तो क्या गजब हो गया? ठीक ऐसे ही मोटे-मोटे ठिए पर डल्लो आयी थी. हां, हवा नहीं बग रही थी ऐसी.

झंडू भगत का कभी का लिया-दिया आगे आ गया. हाथ की टहनी छोड़ खड़ा हो गया, "आओ भई, आओ. कुछ भी लो, हर माल सस्ता लगा दिया." झंडू ने क्षण में ही कितने ही बोइए टोकरे-टोकरियों का अंबार लगा दिया डल्लो के आगे. डल्लो टुकुर-टुकुर देखे. एक से बढ़कर एक, किसे ले किसे छोड़े? झंडू अनुभवी था, समझ गया, "हां हां! ले लो. पैसे की बात नहीं, फिर आ जायेंगे." एक बढ़िया कसीदाकारी की टोकरी उठा हाथ में थमा दी. डल्लो की उंगलियों से अंगुलियां छू गयीं. हाथ भन्ना गया. ऊपर से नीचे तक हिल गया झंडू. खड़ा-खड़ा पता नहीं किस दुनिया में खो गया. कई बार डल्लो द्वारा पूछने पर किसी ने झंझोड़ा "मोल बता दे, ताऊ." झंडू जागा, "अरे नाज सही, हम तो कुछ भी ले लेंगे."

डल्लो बोली, "फिर भी?"

"तुमसे मोल-भाव नहीं करने का. मोल भाव को दुनिया पड़ी है." डल्लो बालक तो है नहीं, नजर पहचान गयी. समझ गयी, झंडू की दरियादिली का राज. फिर तो टोकरा-टोकरी कुछ भी पुराना होते ही डल्लो ठिये पर आ धमकती. एक मधु-मुस्कान के बदले जी चाहे जैसे चीज थाम लेती और चल देती नजर नचाका के. झंडू भी दिलेर निकला.

झंडू डल्लो पर जी-जान से फिदा हो गया. हर वक्त छैला बना टंच रहता. क्यों न रहे, गांव की हूर-परी उसके ठिये पर जो आती. अपने आगे वह किसी को नहीं बदता. फिर कमी क्या थी झंडू भगत को? भाई-भाभी. भरा-पूरा परिवार. भतीजे-भतीजी हर वक्त सेवा में खड़े रहते. पूरी मौज थी. एक ब्याह ही तो नहीं हुआ, सो गांव में फुंदा, हस्रारान, चरता जैसे कितने हैं, उसकी तरह क्वांरे और उसके पास तो अब दिल बहलाव को . . . झंडू की बांछें खिल जातीं. फिर वह तो कमाऊ पूत है अपने और परिवार की पूर्ति के लिए एक नहीं दो-दो काम करता. उधर बरखा आती उधर झंडू दौड़ता जोहड़ी किनारे.

सिंघाड़ा भी ससुर आदमी पर गया है. बिलकुल आदमी की तरह होता है सिंघाड़ा. मुलायम-मुलायम. भरा-पूरा, बाहरी खोल जरूर कड़ा है किंतु भीतर दूध भरा है, जैसे आदमी के दिल में प्यार. सिंघाड़ा भी पानी रखने वाले आदमी की तरह पानी पसंद है. जरा-सा सूखा पड़ा मुरझा गयी बेल. दो बूंद चुई नहीं, बेलि की आत्मा हरी, जितना ताल में पानी बढ़े, उससे चौगुनी बढ़ती है बेलि. पानी बेलि में होड़ पड़ जाती आगे निकलने की.

एक बार ऐसा झड़ लगा, पंदरवाड़े सूरज के दर्शन ना हुए. जल-जंगल एक हो गया. बेलि रात-दिन में पुच्छल तारा हो जाती. जोहड़ी की सीम फांद जाती. झंडू कई-कई बार बेलि का सिरा अहिस्ता से थाम जोहड़ी के निचान की ओर कर देता. बेलि की पौनी छूकर अंदाज लेता सिंघाड़े को. आज इत्ती पौनी बढ़ी, सिंघाड़ा इत्ता बढ़ गया होगा. उस साल सिंघाड़े की फसल रिकार्ड तोड़ गयी.

झक्का भोर में ही झंडू जोहड़ी पर पहुंच उल्टे मटकों की डोंगियां बना सांप-सपोलों की परवाह किये बिना छप से पानी में उतर पड़ता. डोंगियां पर बैठा-बैठा तैर जाता जैसे पतरी मच्छरिया, फूल बचाकर हाथ से पानी काट फिरकनी की नाई इधर से उधर घूम जाता. चुन-चुन सिंघाड़े दोनों हाथों से झोली भर लेता. बड़े-बड़े पके सिंघाड़े छांट-छांट अलग झोली में रख लेता. कस्बे में बहंगी का बोझ खाली कर आता. शाम को दो-दो चार-चार अड़ौस-पड़ौस में नाम को ही देता, किंतु असली सिंघाड़े डल्लो के घर ही जाते. "फसल नयी करो" महीने भर यही बहाना, रोज डल्लो के घर जाना. रोज फसल नयी करने की बात में एक दिन डल्लो के मालिक ने उसे घूरकर देख लिया, तब जाकर कहीं झंडू का नयी फसल का बुखार कम पड़ा था.

उसी साल झंडू ने रुई की खानेदार बंडी बनवायी थी. झंडू बंडी को बड़ी भाग्यशाली मानता. बंडी चिरं-चिरं हो गयी फिर भी उसे टूटे काठ की संदूक में बड़े जतन से तह करके रखता, क्योंकि उसी वर्ष किसी के ब्याह के लगन में जाते हुए शायद बंडी को देखकर ही तो औरतों ने गाया था एक सिंघाड़े का गीत :

चाहे कितने ही लाड़ लड़ाले,
मैं तो यहां ना रहने की.
चाहे पानी में तैराले,
मैं तो बेल सिंघाड़े की ! !

मिले-जुले सुरों में झंडू ने डल्लो का सुर अलग पहचान लिया था. सबसे सुरीला सुर था उसका, कोयल-सी कूकती डल्लो. डल्लो ने ही गढ़ा

द्वितीय पुरस्कार प्राप्त लघुकथा

दृष्टि दोष

कुंअर बेचैन

आंखों के डाक्टर का असिस्टेंट बाहर बैठे हुए मरीजों में से पहले मरीज का परिचय दे रहा है, "सर! इस मरीज का नाम 'आज का समाजसेवक' है. इसे एक नवयुवक जबरदस्ती पकड़कर लाया है. इसका मर्ज यह है कि इसकी आंखें तो खुली रहती हैं, लेकिन दिखाई कुछ नहीं देता."

"अच्छा बुलाओ."

डाक्टर ने दहेज के लालच में जलायी गयी नवेली दुल्हन का चित्र मरीज के सामने ले जाकर पूछा, "बताईये मिस्टर समाज सुधारक, यह किसकी तस्वीर है?"

"दिखायी नहीं दिया सेठ जी!" उसका उत्तर था.

"मैं सेठ जी नहीं, डाक्टर हूं. मुझे डाक्टर कहिये." डाक्टर ने समझाया. . .!

ऐसी ही कई समस्याओं के चित्र डाक्टर ने दिखाये मगर उसे निराशा ही हाथ लगी.

अब की बार डाक्टर ने एक छोटी-सी पुस्तिका को दूर से ही दिखाया, "कुछ दीखता है?"

"जी हां!"

"क्या है, बताइये?"

"चंदा वसूल करने की रसीद बुक"

"और उसके बाद?"

"रुपयों की थैली."

"ये दोनों चीजें आपको साफ-साफ दिखायी दे रही हैं न?"

"जी हां."

डाक्टर मरीज के इस उत्तर पर बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि इससे उसके इस मत को और अधिक बल मिला कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह निपट अंधा ही क्यों न हो, कुछ न कुछ अवश्य ही दिखायी देता है.

डाक्टर ने मरीज को एक ओर बिठा दिया.

"सर! इस दूसरे मरीज का नाम 'आज का कवि' है. इसे भी इसके बच्चे जबरदस्ती पकड़कर लाये हैं. इसका मर्ज यह है कि इसकी आधी आंखें खुली रहती हैं, आधी बंद. इसे पास की चीजें नहीं दिखायी देतीं, दूर की चीजें खूब दीखती हैं."

डाक्टर ने उसे जांच के लिए बुलाया और बाहर बैठी उसकी बीबी और उसके बच्चों को भी बुलाकर उन्हें मरीज के सामने लाकर पूछा, "हां तो मिस्टर कवि, बताइये आपके नजदीक कौन-कौन है?"

"दिखाई नहीं दिया संयोजकजी."

डाक्टर ने डपटकर कहा, "मैं संयोजक नहीं, डाक्टर हूं."

डाक्टर को आश्चर्य तो हुआ किंतु हिम्मत न हारते हुए शराब की कुछ बोतलें उसके सामने रख दीं. डाक्टर अभी कुछ पूछ भी न पाया था कि मरीज ने उनमें से एक बोतल का कार्क खोला और गटागट पी गया.

डाक्टर नाराज नहीं हुआ, वरन् अपने मन में खुश होकर बुदबुदाया, "मैं यही सोचता था."

डाक्टर ने इसे भी पहले मरीज के पास बिठा दिया.

"सर! इस तीसरे मरीज का मामला बड़ा दिलचस्प है. इसका नाम 'आज का नेता' है. इसे एक बड़ी भीड़ पकड़कर लायी है. भीड़ का कहना है कि इसकी आंखें हमेशा बंद रहती हैं और इसे कुछ भी दिखायी नहीं देता, यदि कुछ दिखायी देता भी है तो सब उलट-पुलट, जबकि मरीज खुद यह कहता है कि वह ठीक-ठाक है, उसे कोई मर्ज नहीं है."

डाक्टर 'बुलाओ' शब्द कहे, इससे पूर्व ही भीड़ ने उसे धकेलकर अंदर कर दिया.

डाक्टर ने परीक्षा की नयी पद्धति निकाली. उसने पिचके पेट और उभरी पसलियों वाले लोगों की भीड़ में से कुछ लोगों को सामने लाकर नेता से पूछा, "यस, मिस्टर आज के नेता! आपके सामने, बताइयेगा क्या है?"

"मेरा भोजन, मैडम!" नेता ने चीजों को गलत रूप में देखने की आदत के अनुसार उत्तर दिया.

डाक्टर को बुरा लगा कि वह आदमियों को भोजन बता रहा है और उसे मैडम, किंतु साहस बटोरते हुए उसने हिंदुस्तान का एक फटा नक्शा हाथ में लेकर पूछा, "यह क्या है?"

"जहन्नुम." नेता ने क्रोध में जवाब दिया.

डाक्टर को यह बात भी बुरी लगी. अब उसने एक कुर्सी उसके सामने रखी और फिर पूछा, "यह क्या है?"

"मेरी मंजिल." और इतना कहकर वह झट-से कुर्सी पर बैठ गया.

अब डाक्टर ने तीनों को समझाया, "देखिए, मैंने आपकी आंखों के दोष पहचान लिये हैं. दरअसल, आपको जो चीजें दिखायी देती हैं अगर वे दिखायी देनी बंद हो जायें और जो दिखायी नहीं देतीं वे दिखने लगें तो आपका दृष्टि-दोष अपने आप ठीक हो जायेगा."

यह कहकर डाक्टर अंदर दवाखाने में दवा लेने चला गया. लौटा तो तीनों मरीज नदारद थे. साथ ही चंदे की थैली, शराब की बोतलें तथा कुर्सी भी गायब थी. केवल असिस्टेंट ही हिंदुस्तान के फटे नक्शे के पास अपने-हाथ पांव बंधवाये हुए मेज के नीचे पड़ा था. . . □

● द्वितीय-एफ.-51, नेहरू नगर, गाजियाबाद

होगा यह सिंघाड़े वाला गीत उसे सुनाने को. फिर तो हर किसी की लगन चिट्ठी सगुन में आते-आते दगड़ों में इसी गीत की बिखेर होती. झंडू उठ बैठा होता. पता नहीं क्यों उसका इतना कड़ा जी भी धुकुर-धुकुर करने लगता. वह खूब जोर लगाता किंतु सिंघाड़े की बेलि के अलावा उसके कुछ समझ नहीं आता. एक दिन रामायण वाले मास्टरजी उधर से गुजरे. झंडू ने आवाज दे ली, "तुम रोज चौपाई समझाओ हो. हमारी समझा दो तो जानूं?"

मास्टर द्वारा अर्थ खुलासा करने पर वह चौंक गया. "अरे मास्टर जी, यह बात है! वह दौड़कर दूकान से बीड़ी लाया. अपनी गुड़गुड़ी की चिलमची से बीड़ी सुलगा मास्टर के हवाले करता हुआ बोला, "मास्टरजी, कभी गरीब कू भी दर्शन दे जाया कर."

"हां-हां! तू चौपाई इक्ट्ठी कर लिया कर."

मास्टर कितना भला है, झंडू सोचता. अच्छा, तो यह बात है. डल्लो आ गयी लैन पै. चाहे तैराले. सिंघाड़े की बेल बन गयी डल्लो. चाहे कुछ कर लै. हां-हां भाई, क्यों नहीं, प्यार हो तो डल्लो का-सा. पर यह पहली लैन किसके लिए कही, चाहे कितने ही लाड़ लड़ालै यहां ना रहने की. अरे! तू भी रहा बुद्धू का बुद्धू झंडू, और किसके लिए कहती! अपने खसम को! कहां डल्लो की उम्र कहां उसकी! स्स्साले की शक्ल तो देखो, गेहूं का लोथड़ा कच्चा लिये जाये. ठहाका मारकर हंस पड़ा झंडू. कहकहा बढ़ता ही गया. किसी ने टोक दिया, "क्या पा गया भगत जी?"

झंडू लाल-पीला हो गया, "कोई मतलब!" बेचारा पूछने वाला बेवकूफ बन गया. किंतु सबसे बड़ा बेवकूफ तो आज झंडू हो रहा है. पता नहीं क्यों डल्लो अचानक मुंह मोड़ गयी. मिसरी की डली जहर की पोटली बन गयी. किसी का क्या दोष, साली किस्मत ही खराब है. किस्मत खराब ना होती तो अच्छा-खासा पहलवान-झंडू बिन-ब्याहे रह जाता? बाप, सिर पर कर्जा छोड़ मझधार में छोड़ गया डूबने को. जैसे-तैसे गाड़ी लैन पर लाया, लैन पर लाते-लाते उम्र की गाड़ी पटरी छोड़ गयी. पकी उम्र में कौन दांत देखता, रह गया उजड़. किंतु झंडू को पछतावा तो इस बात का था कि जन्म से आज तक उसने किसी की ओर आंख उठाकर नहीं देखा, तभी तो वह गांव का भगत बना. किसी को गलत आंख से देखने का इरादा था भी नहीं, पर पता नहीं ईश्वर ने डल्लो के मामले में क्यूं उलझा दिया उस सीधे-सादे को? अब इसमें डल्लो को क्यों दोष दें? होनी तो होनी को ही बनायी है. पर आदमी कुछ तो सत पकड़े, पर जब कोई बिल्कुल ही . . . झंडू के मन में कितने ही उतार-चढ़ाव आते, उससे भूल हो गयी या कोई चुगली खा गया, झंडू बात का पार न पा सका.

एक दिन उसके लंगोटिया यार ने बताया, "तेरी यारनी गयी!"

"कहां?" आश्चर्य से मुंह फटा का फटा रह गया झंडू का.

"अरे वे लाला है न चि. . ."

"जल्दी बोल. . ."

"लंबरदार चिरंजी ने फांस ली तेरी चिड़ि!"

टोकरा बुनना भूल गया झंडू. माथा पकड़ बैठा रहा काफी देर तक. आजकल तभी लंबरदार उखड़ी-उखड़ी बातें करता है. गाहे-बगाहे सुलट लेने की धमकी भी दी. एक दिन बातों ही बातों में लाला से जिद-बाद हो गया था. झंडू ने उलझना चाहा किंतु उलझा नहीं. जल में रहकर मगर से बैर मंहगा पड़ेगा. किंतु अब हरामी को ऐसा मजा चखाऊंगा कि. . . लाला क्या साला एम. एल. इये बना है, कितनी बीर बिगाड़ दीं. गांव चकला बना दिया. एक दो तीन. . . अरे कोई तो भीम हो. . . स्साले की फाड़कर दो फांक न कर दी तो मेरा नाम झंडू नहीं!

उफनती डेगची सीम में आने लगी. जब अपना बछड़ा ही नाथ तोड़ भाग निकले तो किसी का क्या दोष? ऐं इस खींचा-तानी में कहीं कुछ डल्लो का तो न बिगड़ जाये? कहीं दो भैंसों की टक्कर में झंडू रुंद जाये. अजी होगा कैसे? देख स्साले त तू. . .

पिघली भावुकता बौद्धिकता के तल पर पहुंच ठोस रूप लेने लगी.

भतेरी लड़ी डल्लो तो. गोबर-आनने तकड़ी-डैंगरी चुग बीन लाती दो टहल बजा जैसे-तैसे गुजारा करती किंतु भष्मासुर मंहगाई के आगे पेश चले तब तो. उधर उसके आदमी का हाथ धोखा दे गया. हर वक्त कांपता उस्तरा थमता ही नहीं, डल्लो भी कहां तक थिर रहती अपने धर्म पर? आखिर घोंटू टेक ही गयी रोटी के आगे. माथे से पसीना पोंछ दूर फेंक दिया झंडू ने. कैसा जमाना आ गया अब . . नेम-धरम, प्यार सब रोटी के चक्कर में. . . यह ससुरी रोटी कहां से आ गयी प्यार के बीच में? झंडू का मन कड़वा गया. कैसे हो गया यह सब? किसने कर दिया ऐसा? बात गोल गांठ हो गयी, खुलने में ही ना आयी.

फिर कभी तो अच्छे-अच्छों के यहां भी हो जाती है. किंतु जब कोई कहे तभी तो. ज्योतिष तो कोई है नहीं जो भीतरले की पढ़ लें. अरे! जहां इतने जने, दो वे दो उनके और सही, क्या भारी है? हम तो पीढ़ा पर और थोड़ा टैम लगा देते उनके नाम का. अरे, मुझमें ही कोई कांटा देख लिया हो तो उससे तो फंदा घना ठीक था. सौ-डेढ़ सौ महावार बना लेता है भट्टे की मुनीमाई से हारे-थके को दो गर्म-गर्म रोटी सेक दिया करती तो दो रोटी तो वह भी दे देता. वह है तो इज्जतदार आदमी. सबकी इज्जत अपनी इज्जत समझता है. मन का उफान होंठों के रस्ते बाहर हो लिया, "तू तो भोली रही डल्लो. भला बूढ़े खूसट चिरंजी में तूने क्या देखा? अरे! प्रेम में उम्र की मर्यादा ना भी सही, तो वह प्यार का सौदाई कहां? वह तो राक्षस है हविस का राक्षस. तुझे क्या पता तेरे जैसी कितनी कोमल पत्ती हविस की डंडी से रगड़-रगड़ उड़ा दी हवा में, डुबो दी दरिया में. इसी को सोच-सोचकर तो. . ." झंडू ने चौंककर चारों ओर देखा किसी ने सुन तो नहीं लिया.

आज उसे संतोष नहीं हो रहा था. मन थम ही नहीं पा रहा था, उसे बड़ा मलाल था, डल्लो पर तो उसे बड़ा गुमान था और आज . . क्या कमी देखी डल्लो ने उसमें. . . ?

सच्चे प्यार की बात ही कुछ और है. सावतरी को ही ले लो? कहां सतवान लकड़बेचा कहां सावतरी राजा की बेटी. सबने चलाया, खूब डराया, सावतरी चली? देखा? सच्चे प्यार के बीच कुछ आ ही नहीं सकता, यहां तक की भगवान भी. डल्लो का प्यार ही ऐसा-वैसा रहा होगा. किंतु दूसरे क्षण स्साले को ऐसा मजा चखाऊं कि दुनिया देखे. . .

नंबरदार से लड़ने की ताल ठोकने वाला खुद से ही चित हो गया, लाला की नंबरदारी बग रही थी. लंबी-चौड़ी जमींदारी, नौकर-चाकर टहलुवे-गुमास्ते अफसर-मंत्री कहां तक किस-किस से लड़ेगा झंडू?

मन की चिड़ि दुख के मौसम में सोच के पंख लगा विवेक के नभ में उड़ चली. रोटी. . . रोटी. . . रोटी कहां चली गयी रोटी? अरे कुछ दिन पहले ही एक कमाता सारा घर बैठकर खाता और अब. . .रामायण वाले मास्टर की बात, अब तो रोटी पहले से बहुत बढ़ गयी. यदि सच हुई होती तो डल्लो जैसी कितनी ही. . . अरे भई, मास्टर है, ठीक भी कहता हो, फिर कहां चली गयी यह बड़ी हुई? कौन डाका मार ले गया इसे, पहले जितनी भी नहीं. रोटी से टकराकर असलियत की धरती पर चिड़ि धड़ाम से आ गिरी. वह कराहा. पीढ़ा छोड़ धरती पर टिक गया झंडू. नीम की ओर देखा कव्वा कांव-कांव कर रहा था.

इस तरह कितने दिन-रात वर्ष खटारा गाड़ी की तरह घिसटते चले जाते किंतु झंडू के विचार खत्म होने में न आते.

पहला प्यार असली होता है, भुलाए नहीं भूलता. झंडू उचक-उचककर न चाहते हुए भी डल्लो की झोंपड़िया की सैर ओर ताकता. पर डल्लो तो ईद का चांद हो गयी. दिखाई भी देगी तो लाला की हवेली में! झंडू ने टोकरा उठा पटका, झुंझलाया, झंडू की भतीजी रोटी ले आयी थी, "ताऊ रोटी खा लै!"

"भूख ना है. ले जाव."

झंडू ने दगड़े की ओर निहारा. अंधकार नजर आया. बिना तामझाम मुंह को ढक, तुड़वाने लगे. जो घुमाये पास पड़ी खटिया पर पसर गया. कभी इस करवट कभी उस करवट, बात साली जंजाल बन गयी और रात द्रोपत-चीर. खत्म होने में ही ना आती. सूरज भी साला मुंह देखा है. जब चाहत नहीं, सिर पर सवार हो मुंह चमकाने लगता है और अब जरूरत है, साला सो गया काले पहाड़ की ओट में जाके. ये साली गरमी की रुत ही बुरी. इससे तो सर्दी लाख दर्जे भली, न मक्खी न मच्छर. इत छाड़ते मारते उठ बैठा झंडू खटिया छोड़ दगड़े में उतर गया. नाली के मुहाने पर लंगी करने लगा. सामने ही डल्लो की झोंपड़िया थी. धोती का ठोक सरोबार हो गया. ओफ-हो. . . ध्यान तो ससुर. . . हाथ से पल्लू निचोड़ दूसरे से लांग संवारता सीधा हो गया. अनायास पैर खटिया की ओर न जाकर डल्लो की झोंपड़िया की ओर मुड़ गये.

झोंपड़िया पर पहुंचने से पहले ही पैर अधबीच में ही ठिठक गये. कहां जा रहा है तू? दिसामूल तो नहीं हो गयी? चारों ओर नजर दौड़ायी. किसी ने देख तो नहीं लिया? एक कुत्ता जरूर खड़ा था बगल में. झंडू को देख रहा था और दुम भी हिला रहा था, "पुच्च, क्या बात है भाई?" भगत फौरन लौट पड़ा. गाल पर एक तड़ाक दिया, साला गलत बात छिपाता है? फिर तो कई चांटे तड़ातड़ लिये अपने गालों पर. मन में चोर नहीं था, झूठ बोलता है? पराई बीर की ओर देखने का मतलब. . . फिर कई चांटे गालों पर. खटिया पर आ गिरा.

एक मन के दो हो गये. एक बात को नाजाइज ठहराता, दूसरा जाइज. अंत में पहला वाला जीत गया. ऐसे तो सब मामला ही गड़बड़ा जायेगा, पर तिरिया को देखना भी पाप है . . . मन में लाना भी . . .इससे बड़ा पाप तो. . .

मन भी तन की तरह थक जाता है. सोचते-सोचते झंडू की खोपड़ी गर्मा गयी. आज तक ऐसे झमेले में नहीं फंसा था झंडू. भेजा खाली-खाली हो गया, आंख कड़ुवा गयी. पिंडलियों में दर्द की लहर दौड़ गयी. अरे! यह क्या आज तो डल्लो शहरी मैम बन रही है. शर्म ना आयी इतनी तंग पतलून पहनते. देख तो शरीर का पुर्जा-पुर्जा हर चीज चमक रही है अलग-अलग. जब इसे ही शर्म ना तो. . . आंख पर हाथ रख, मुंह फेर लिया झंडू ने. अरे, यह आज जा कहां रही है उधर. पीछा करना चाहिए. अरे रे! यह क्या जोहड़ी में नहायेगी नंगी, कपड़े-लत्ते उतार रही है. हत तेरी की, मेले की सलीमावाली की तरह नहायेगी. चल ठीक है. तेरी किस्मत ठीक रही, आज आंखें तिरपत कर ले, तू भी क्या याद करेगा. झंडू रे! अरे, इसने देख लिया, अब नहीं छिपा जा सकता! चलो चलते हैं, हम किसी सलीमावाले से कम थोड़े ही हैं. कोई क्या इसका खसम भी आ गया मार घूंसे के धरती चटा दूंगा स्साले को. यह क्या? दूर रह भई. ऐसी दोस्ती नहीं करते. जबरन्ती? होंठो पर होंठ रख झंडू के होंठ में दांत गड़ा दिये डल्लो ने. छोड़-छोड़ चिल्लाता झंडू उठ बैठा. आंख फाड़कर चारों ओर देखा, मसली भिड़ उंगलियों में फंसी थी. झंडू सोचता, मन भी साला कैसा थो है? सोते में भी कहां-कहां भटकता फिरता है, पागल कुत्ते की तरह.

जब से भिड़ ने होंठ में डंक मारा, झंडू में बदलाव आ गया और मजे की बात तो यह कि बदलाव आया उसके स्वभाव में और उसे पता न चला. अब वह उखड़ा-उखड़ा रहने लगा. हर किसी से तू-तड़ाक से पेश आता. डल्लो बात न करेगी तो क्या आसमान बह जायेगा? दिन में कई-कई टोकरे बुनने वाले का अब एक भी अधूरा रह जाता. बार-बार बुनता, बुनाई बिगड़ जाती, फिर उधेड़ता. इसी बुना-उधेड़ी में लगा रहता.

एक दिन बिना बात लाला ने बहुत कुछ कह दिया, मां-बहिन की गाली दे दी. सदा सर्द बना रहने वाला झंडू ज्वालामुखी हो गया, फट पड़ा. लाला ने तुरंत मौखिक आदेश दे डाला, "जोहड़ी की ओर रुख किया तो पैर काट दूंगा!"

"हां-हां, ना जाने के हैं तेरी जोहड़ी की ओर."

"मैंने कह दी है बस. . ."

▣ बलबीर लोकेश
▣ जन्म : एक जनवरी, 1949
▣ संप्रति : अध्यापन.
"कुछ लोग जीवन-मूल्यों को उकेरने, आत्म संतुष्टि हेतु, व्यवस्था के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए लिखते हैं, मैं क्यों लिखता हूं, आज तक पता नहीं चल पाया. बस मन में एक हूक-सी उठती है और मैं लिखने लग जाता हूं."

"कह दी क्या, मुफ्त देता है! मेहनत करता हूं."

"अरे, जबान खोलता है, तेरी तो ऐसी की तैसी!"

"जबान को क्या हुआ, धौंस में रहता हूं किसी की?"

आज लाला झंडू की त्योरी से आंख नहीं मिड़ा सका. किंतु एक अंधेरी रात में डकैती के बहाने झंडू को मरा जानकर ही छोड़ा. बहुत दिन खटिया में पड़ा रहा झंडू. काफी सेक-साक टोने-टोटके करने के बाद खटिया छोड़ पाया. चल-फिरकर देखा, हाथ-पैर सही सलामत थे. किंतु भैया-भाभी के तेवर बदल गये. भला कोई उनसे पूछे, वह क्या मुफ्त देता था.

एक साल में ही घर बोल-सा गया. जोहड़ी की असलियत का अब पता चला. झंडू के भैया-भाभी के काटो तो "खून नहीं. वे बिल्कुल उखड़ गये. "तो अच्छा-भला गुजारा चल रहा था. नासपीटे झंडू की जवानी ने सब मटियामेट कर दिया. आग लगे ऐसी जवानी में. . ."

झंडू भी कब तक न बदलता, क्यों कमाये वह? सारी उम्र पिला उसका यह सिला? किसके लिए इतनी परपंच करे? कौन बैठा है उसे रोने? एक उसी की जिम्मेदारी है सारे घर को खिलाने की! और सब मर गये क्या? भतीजी से पानी मांगा. गला सूख गया था. उसने सुना ही नहीं. लाल कोयला हो झंडू पीटने को दौड़ा. . . भाभी घायल शेरनी हो बिफर गयी, "खबरदार जो हाथ लगाया!" सन्न रहा गया झंडू.

आज झंडू की दुनिया में प्रलय हो गयी. अरे जब कमाता था, सब थे और आज. . . बहुत देर बाद उसके मन ने समझाया, जब आज सबके दीदे पर पैसा की ऐनक चढ़ा दी है फिर आदमी की क्या. . . हवा ही ऐसी चला दी कि. . . वह उठा, एक-दो माट-मटोला छप्पर से उठा नीम की खोहर में सहेजता हुआ सोचता, जब अकेला है तो अकेला ही रहेगा. . . उसका दम घुटने लगा. वह जंगल को निकल पड़ा.

जहां कभी खरगोश फुदकते, हिरन कुदकते, परिंदे किलोल करते, कहां छिपा हो गया वह जंगल? फसल में भी वह रूनास कहां? इक्का-दुक्का दरख्त खड़े हैं, एक आध पत्ता लिये वे भी हल्दी जैसे पीले जर्द.

जोहड़ी आ गयी. पिछले साल पानी पर तैराती लहलाती उसी के द्वारा लगायी बेल टांग उठाये पड़ी थी. उसने गौर से देखा, कहीं उसके पैर तो जमीन नहीं छोड़ गये?

टटीरी की टिटकारी शाम का डाकिया बन रही थी. पखेरू अपने घोंसलों को उड़ चले. झंडू का कहीं कुछ हो तो लौटे. फिर भी जाना ही होगा, ठिया इंतजार कर रहा होगा.

ऐं! यह पीर के पास कौन जनानी बैठी है? नजर डांट, सांस थामकर जल्दी-जल्दी बढ़ने लगा झंडू. आंधी आ गयी हत्तेरी की! झाड़ी में फटी लाल पुरानी ओढ़नी उलझी थी, पैर में कांटा लग गया. दोनों नाखूनों से कांटा खींचकर दूर फेंक दिया.

झंडू अंधड़ से लड़ता हुआ आगे बढ़ गया. □

● बैंपुर सिल, सिकंदराबाद, बुलंदशहर (उ. प्र.)

तृतीय पुरस्कार विजेता कहानी

शरीफ लोग

विवेकानंद

साधु मिठाईवाले की दूकान पर चाय पीते-पीते पास चल रही काना-फूसी से छिटककर एक शब्द मेरे कानों में आ पड़ता है- राघव —! मैं चौंककर पीछे देखता हूं, सामने की पक्की सड़क के बाद रेलवे-लाइन को पारकर, जो पी. डब्ल्यू. डी. की जमीन है, वहीं राघव 'नाल-बंधवा' का खूंटा गड़ चुका है. वह छब्बीस-सत्ताईस साल का बांका जवान, जिसके चेहरे की सख्ती शायद जेल से छूटकर आने के बाद कुछ ज्यादा ही बढ़ गयी है, चुपचाप सिर झुकाये मवेशियों के खुर के नाल बनाने में मशगूल होता है.

यूं बरगद की छाया होने के कारण वहीं सेवक चमार, तबारख हज्जाम, कलीम छातावाला, नईम तालावाला, शरीमन केलावाला आदि तमाम फुटपाथ के दुकानदारों की टाटें भी बिछ चुकी हैं. साथ ही पास के गंगाराम पनवाड़ी, सीताराम कबाड़ी और कासिम परचूनवाले की गुमटी के पास भी ग्राहकों की छोटी-मोटी भीड़ इकट्ठी होती है. शाम हो जाने के कारण सड़क पर चलते लोग भागते नजर आते हैं, पर सारा कस्बा जाने-अनजाने उस लाल लुंगी और जालीदार गंजीवाले राघव को ही घूर रहा है, जिसके गले से लटकता ताबीज डूबते सूरज की रोशनी में रह-रहकर चमक रहा होता है.

मैं चाय का पैसा चुकाकर दूकान से बाहर आता हूं, दक्खिन पट्टी की सब्जी-मंडी के सामनेवाले 'विक्रम-फार्मेसी' से लेकर उत्तर पट्टी के रेलवे स्टेशन के आउटर सिग्नल के पास वाले बंगाली डॉक्टर की दूकान तक सड़क के दोनों ओर चार-चार, छः-छः की जमात में लोग इकट्ठे हैं और हर शाम की तरह आज भी यहां 'स्थानीय-राजनीति' शुरू हो चुकी है. लोगों की आंखों में तैरते भय और चेहरे के उड़ते रंग से मैं आशंकित हो उठा हूं. मुझे ऐसा लगता है कि आज पूरे दुलहिन बाजार कस्बे पर एक खामोश आतंक छाया हुआ है. भावी आशंका से मेरा मन धड़क उठता है और तेज कदमों से चलता हुआ मैं एक गोल में आ मिलता हूं. अनायास ही मेरे कान खड़े हो जाते हैं और मैं छेदीराम की बातों पर आंखें टिका देता हूं.

यह सुनकर मुझे काफी आश्चर्य होता है कि 'विक्रम-फार्मेसी' वाले केमिस्ट कैलास ने 'ऑपरेशन' के नाम पर परबतिया चमारिन का पेट चीरकर उसके नवजात बच्चे की जान ले ली और अब वह बेचारी भी मौत के मुंह में अटकी है. . .'बाप रे!' अचानक मेरे मुंह से एक चीख निकल पड़ती है. . .जिस आपरेशन को 'टेक-अप' करने से पहले बड़े अपस्तालों के डॉक्टर 'डी-क्लेरेशन-फार्म' भरवाना नहीं भूलते, उसे इस बेहूदे ने किस बूते पर हाथ लगाया. इस साले को तो सुई लगाने तक की तमीज नहीं. . .मेरा दिमाग बुरी तरह भन्नाने लगता है और दिमाग की नसें फटने लगती हैं, "अरे, तुम्हें कुछ भी पता नहीं! वह किसी एम. बी बी. एस. डाक्टर के साथ कुछ दिनों तक आरा में कंपाउंडर था न, वहीं कुछ सीख-साख लिया है तो अपने को लगता है. . .सोचा कि ढेमन चमार के पास बीबी को आरा-पटना ले जाने का तो बूता नहीं, केस बिगड़ भी गया तो क्या फर्क पड़ता है. . .! क्यों न इसी पर थोड़ा हाथ साफ कर लिया जाये. . .!" छेदीराम पूरी विज्ञप्ति देता है.

"हां, यही बात हो सकती है. . .अब भला जिसके पास मुश्किल से दो जून की रोटी जुटती हो, वह मुकद्दमा-कचहरी क्या करेगा. . .शायद वह इस चक्कर में था कि यदि सफलता हाथ लग गयी तो पूरे जवार में 'कैलास' नाम का ढिंढोरा पिट जायेगा. . ."

"क्या इस बात की सूचना किसी ने राघव को नहीं दी. . .?"

". . .हूं. . .अरे महाप्रभु, उस कैलास के बच्चे से टकराने की हिम्मत और है किसमें! कौन नहीं जानता कि उसकी मिनिस्टरों से लाग-भाग है. राघव ही तो एक है, जो उससे टकरा सकता है. . .अभी थोड़ी देर पहले ढेमन की बुढ़िया माई रोती-पीटती राघव के पास आयी थी. राघव ने उससे कहा कि वह जल्द ही अपने धंधे से निबटकर आयेगा. . ."

"अरे, इसको कहते हैं . . .मर्दानगी. आज ही जेल से छूटकर दूसरी

आजादी के बाद से हमारा समाज लगातार दो हिस्सों में बंटता आ रहा है—एक हिस्सा है शरीफों का और दूसरा चालाकों का. होना तो यह चाहिए था कि शरीफ खुशहाल होते, मगर क्या वजह है कि खुशहाली ही नहीं तमाम सुरक्षात्मक सुविधाएं—कानून, पुलिस—चालाकों के हाथ में जाते रहे ! क्यों, कैसे और किनकी वजह से हुआ ऐसा. . . ? क्या आप उन्हें जानते हैं? जानना चाहते हैं ?

बार आया है और आज ही फिर. . ." छेदीराम के यह कहने के साथ ही वातावरण में सन्नाटा व्याप्त जाता है. . .

—मुझे लगता है कि आज भी मेरे कस्बे में अन्याय व भ्रष्टाचार पूरी तरह बरकरार है. मुझे बारी-बारी से वे तमाम अत्याचारपूर्ण घटनाएं याद आने लगती हैं, जो वर्षों से घटित होती आ रही हैं. मैं यह सोचने के लिए मजबूर हो जाता हूं कि आजादी के वर्षों बाद भी आखिर क्यों मेरे कस्बे में किसी भी तरह का बदलाव नहीं आया. बाहरी तौर पर भले ही बहुत कुछ बदल गया हो, पर अंदरूनी हालत अभी भी ज्यों-की-त्यों है. क्या कारण है कि आज भी सामंतशाही और नौकरशाही की प्रवृत्तियां घुन की तरह जीवन-मूल्यों को खोखला करती जा रही हैं और शिक्षा के नाम पर कतिपय डिग्रियों के बावजूद हम चेतना के स्तर पर निरंतर गिरते चले जा रहे हैं. . .इसके मूल में दोषी कौन है, जिनके चलते बदलाव की प्रक्रिया अवरुद्ध होती चली आ रही है. आखिर बदलाव क्यों नहीं हो पा रहा. . .क्यों नहीं! . . .

मेरी नजर राघव पर पड़ती है. बैलों का जोड़ा लिये पास ही बैलवान खड़ा है और वह उसी तरह दनादन नालें बना रहा है. मुझे मालूम है कि नालें बना चुकने के बाद राघव एक मोटी-सी रस्सी से बैल की टांगें बांध देगा. इसके बाद साथ लगे डंडे को घुमा-घुमाकर वह फंदे को कस देगा. फिर पूरी ताकत लगाकर बैल को जमीन पर पटक देगा और बैलवान से सींग एवं नथुने की रस्सी दबाये रखने को कह खुद संड़सी उठाकर पुराने नालों को उखाड़ फेंकेगा. इसके बाद वह अपने तेज चाकू से बढ़ आये खुर के नाखूनों को काटेगा और तब नये नाल ठोंक देगा. यही उसकी दिनचर्या है, जिसे मैं प्राय: रोज ही देखता रहा हूं.

बैल के गिरने के साथ ही ढेर सारी धूल उड़ चलती है और धूल के गुबार में खोई मेरी आंखों के सामने अनायास ही अतीत तैर जाता है. . .

ऐसी ही अजीबोगरीब थी वह शाम, जब पी. डब्ल्यू. डी. के किसी अधिकारी से हुई मारपीट ने राघव को पहली दफा जेल की हवा खिलायी थी. उस दिन वह सरकारी आदमी एक नोटिस लेकर आया था. उसके साथ 'स्थानीय शिविर' के कुछ सिपाही भी थे. उसने आते ही तमाम फुटपाथ के दुकानदारों को आदेश दिया था कि वे अपनी दुकानें उठा लें, क्योंकि ठीक पांच बजे शाम को बड़े साहब मुआयना करने आने वाले थे. शाम होते न होते राघव को छोड़कर प्राय: सभी ने दुकानें उठा ली थीं. जब कई बार ताकीद करने के बावजूद राघव ने अपनी टाट नहीं समेटी तो सरकारी कर्मचारी उस पर बरस पड़ा. राघव का कहना था कि वह रोज की कमाई खाता है. जिस दिन नहीं कमाता, घर का चूल्हा ठंडा रहता है. चाहे कोई भी साहब क्यों न आने वाले हों, वह दूकान नहीं समेटेगा. यहीं वर्षों से उसके बाप-दादा भी कमाते आये हैं. लेकिन उस आदमी ने उसकी एक न सुनी थी और उसके औजारों का थैला उठाकर एक तरफ फेंक दिया था. यह देख राघव की आंखों में खून उतर आया और उसने उस पिद्दी से दीखने वाले आदमी की कलाई काफी सख्ती से दबा दी थी. वह 'बाप-बाप' चिल्ला पड़ा था और पलक मारते ही सिपाहियों ने डंडे चला दिये थे.

इसके बाद काफी दिनों तक राघव की जगह उसका बूढ़ा बाप राधेश्याम नाल ठोंकने आने लगा. मैंने आते-जाते कई बार उसकी फटे-हाल स्थिति और झुकी कमर को गौर से देखा था. उसकी पीली आंखों में झांकते हुए मुझे हर बार ऐसा लगा था कि उस अस्सी वर्ष के खूसार की आंखें हर समय डबडबायी रहती हैं. मैंने अक्सर उसे लोगों से यह कहते सुना था कि पढ़-लिखकर बेटा आवारा हो गया. क्या इन्हीं दिनों को देखने के लिए उसने आधा पेट खाकर बी. ए. की डिग्री दिलायी थी. क्या जरूरत साहब लोगों से लड़ाई मोल लेने की, एक रात किसी तरह उपवास ही सह लेता. . . .जाने किस कसूर की सजा भगवान इस बुढ़ापे में दे रहा है . . .आदि-आदि. और इतना कुछ कह चुकने के बाद वह अंत में यह एक वाक्य अवश्य दुहरा देता था कि इससे तो अच्छा था कि . . .वह मर जाता . . .और फिर फफक-फफककर रो पड़ता.

और एक दिन वह सचमुच ही चल बसा. तब राघव जेल में ही था. यहीं बरगद के नीचे पड़ी उसकी लावारिस लाश पर मक्खियां भिन-भिनाती रही थीं. तीसरे दिन गयी रात को लाला मूलचंद सेठ ने कुछ मुसहरों को पैसे देकर लाश बगीचे में फेंकवा दी थी, क्योंकि ठीक सामने दूकान होने के कारण लाश की सड़ांध से लाला को दिनभर मितली आती रही थी. . .

अंगुलियों की जलन के साथ विचारों का क्रम टूटता है और मैं सिगरेट का टुकड़ा झटककर नीचे फेंक देता हूं. मैं देखता हूं, 'स्थानीय-राजनीति' में हिस्सा लेने अब कुछ कम उम्र के बच्चे भी आ गये हैं. मुझे कोफ्त होती है, इन छोटे-छोटे मुद्देबाजों को देखकर. ये लड़के-लड़कियां स्कूल से आते ही बाजारू पचड़े में पड़ जाते हैं. एक अपना समय था, जब स्कूल से आते ही चना-चबेना फांकते, डीहवाले बगीचे की ओर खेलने-कूदने निकल जाते थे. तब हर साल सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित होते थे, फुटबाल और कबड्डी का टूर्नामेंट भी होता था. . .

मुझे याद आता है, जेल से छूटकर आने के बाद राघव अपनी बड़ी

तृतीय पुरस्कार प्राप्त लघुकथा

रेजा कुली

अंकुश्री

पति और पत्नी दोनों साथ-साथ मजदूरी करते थे. सुबह से खटते रहने के बाद वे बन रही इमारत के एक कोने में टिफिन के लिए बैठे थे. पति के चेहरे से बह रहे पसीने को देखकर पत्नी ने कहा, "कितनी मेहनत करते हो! देखो तो, पसीने से चेहरा तो भीग ही गया है. आधी गंजी भी भीग गयी है." पत्नी ने आंचल से पति का पसीना पोंछ दिया.

"पसीना तो तुम्हारे चेहरे पर भी चुहचुहा आया है." पति ने गमछा से पत्नी का चेहरा पोंछते हुए कहा, "मुझसे तो कहती हो कि मैं मेहनत करता हूं, और तुम? तुम भी तो अपनी जान की परवाह किये बिना पूरे दिन खटती रहती हो."

"खटना तो पड़ता ही है." पत्नी ने संतोष की सांस लेते हुए कहा, "आखिर मेहनत की ही तो मजदूरी मिलती है हमें!"

खाने के बाद दोनों अलग-अलग कपड़ा बिछाकर लेट गये. दो मिनट बाद इमारत की छत की ओर ताकते हुए पति ने कहा, "कितनी अच्छी इमारत है!"

"हां!" पत्नी ने स्वीकृति देते हुए कहा, "इसमें बरसात में न एक बूंद पानी ही पड़ सकता है और न गर्मी के दिनों में सीधी कहीं से लू ही समा सकती है.इस बरसात के पहले अपना घर भी ठीक कर लेना होगा."

"हां, घर ठीक करना बहुत जरूरी है." पत्नी के चेहरे की ओर गौर से ताकते हुए पति ने कहा, "वर्षा, धूप और हवा तो उसमें निःसंकोच आ ही जाती है, घर का पर्दा भी नहीं रह गया है." पति धीरे से खिसककर पत्नी के पास आ गया. इधर-उधर ताकने के बाद उसने पत्नी को चूम लिया.

"अरे, क्या करते हो! हटो, कोई देख लेगा."

"इस बरसात में यह इमारत पूरी नहीं हो सकेगी. हम लोग रात में यहीं किसी कोने में सोया करेंगे."

"तुम्हें तो हमेशा रात की ही चिंता लगी रहती है. आराम करो चुपचाप." कहकर पत्नी ने करवट बदल ली.

एक घंटा बीत जाने पर पति ने उठते हुए कहा, "टिफिन का टैम खत्म हो गया. चलो, काम पर चलें."

पत्नी भी कपड़ा झाड़ती हुई उठ गयी. दोनों मुस्कराते हुए काम पर जुट गये. □

● वन भवन (ल.व.प.) हिनू, रांची (बिहार) 834002

हुई दाढ़ी और लाल-लाल आंखें लिये जाने कहां-कहां नौकरी की तलाश में महीनों चक्कर मारता रहा और जब नौकरी नहीं मिली तो थक-हारकर फिर से दुबारा अपने पुराने धंधे से आ जुड़ा. उन्हीं दिनों जाने किस मूड में उसने वर्षों की टूटी-बिखरी अपनी ड्रामा-पार्टी को फिर से सहेजा था. हालांकि एक छोटे-मोटे रोल के लिए उसने मुझे भी आमंत्रित किया था, पर मैं बहुत चाहकर भी उसका साथ नहीं दे पाया. ऐसा इसलिए नहीं कि मैं राघव को गलत आदमी समझता हूं, बल्कि इसलिए कि मैं बिल्कुल मजबूर हूं. बात यह कि इन दिनों मैं व्यवस्था की चाटुकारिता करनेवाले एक साप्ताहिक-पत्र का 'स्तंभ' लेखक बना दिया गया हूं और अब यही मेरी जीविका का एकमात्र साधन भी बच रहा है.

वैसे मुझे आज भी अच्छी तरह से याद है कि कालेज के दिनों में मेरी रचनाओं का सबसे बड़ा प्रशंसक राघव ही था. उन दिनों 'उमस' वाले बड़ी तेजी से मेरी रचनाएं लौटा रहे थे और जब कभी भी मैं निराशा के दौर से गुजर रहा होता, राघव ने मेरा साथ दिया था. वह घंटों बैठकर मुझे समझाता कि मैं अपनी रचनाएं अन्यत्र भी भेजकर देखूं. कालेज से निकलने के काफी दिनों बाद तक जब हमें नौकरियां न मिलीं तो राघव औरों की तरह बाप के पेशे में जा घुसा और मैं अंततः 'उमस' का 'स्तंभ-लेखक' बना दिया गया. यही कारण है कि मानसिक रूप से अपने को राघव के करीब अनुभव करते हुए भी मैं प्रत्यक्ष रूप से कभी उसका साथ नहीं दे पाता. . .

मुझे याद आता है, दशहरे की रात 'ग्रेजुएट-डाकू' ड्रामा देखने के लिए पूरा जवार ही टूट पड़ा था. उत्तर-पट्टी के रेलवे स्टेशन के दूसरी ओर की कच्ची सड़क पर मां-दुर्गा के मंडप के पीछे रंगमंच की व्यवस्था हुई थी. सभी भाव-विभोर होकर राघव और उसके साथियों के सशक्त अभिनय का आनंद ले रहे थे. मैं भी एक कोने में मंडप के बांस से सटा बैठा था. एक अजीब किस्म का जोश लोगों में व्याप्त था और रह-रहकर तालियां गूंज रही थीं. डाकू के रोल में राघव बहुत फब रहा था. . .

लेकिन तभी 'पी-पी' की आवाज करती पुलिस की जीप आ गयी थी. दनदनाते हुए पुलिस के कर्मचारी मंच पर जा चढ़े और देखते ही देखते राघव अपने तमाम साथियों सहित 'प्रतिक्रियावादी-तत्वों' को फैलाने के आरोप में गिरफ्तार हो गया. भारी शोरगुल के साथ भीड़ उखड़ गयी थी. मैं भी भीड़ के पीछे भागता हुआ घर में आ घुसा था, लेकिन जाने क्यों, उस रात देर तक मैं बिस्तर पर पड़ा करवटें लेता रहा. दरअसल यह मेरे कस्बे के लोगों की पुरानी हॉबी है. बात-की-बात में पुलिस बुला भेजने में लोग गर्व महसूस करते हैं.

घर्र-घर्र की आवाज के साथ मेरा ध्यान बंटता है. मैं देखता हूं, कस्बे की 'दक्खिन-पट्टी' से आकर कोई ट्रेक्टर बीच बाजार में रुकता है. ट्रेक्टर के पीछे जुड़े ट्रेलर में काफी लोग सवार होते हैं, जो चाल धीमी पड़ते ही भरभराकर उतर जाते हैं. मैं समझ जाता हूं कि लाला चंदूमल सेठ की दूकान से अब दो नंबर का माल लदना शुरू होगा. दरअसल आजकल मेरे कस्बे में ऐसे ट्रेक्टरों की भरमार है. खेती के नाम पर सरकारी-ऋण द्वारा निकाले गये ये ट्रेक्टर दिनभर यात्रियों को एक कस्बे से दूसरे कस्बे तक ढोने का काम करते हैं और रात भर जमाखोरों को काला बाजारी में मदद पहुंचाते हैं. लेकिन यह देखकर मुझे काफी आश्चर्य होता है कि ट्रेक्टर से उतरनेवाले लोगों में राघव के वे तमाम साथी भी शामिल होते हैं, जो आज ही राघव के साथ जेल से छूटकर आये हैं. वे राघव के पास जाकर खड़े हो जाते हैं.

राघव का काम लगभग खत्म होने को है. बस पांच मिनट के अंदर ही अंदर वह अपना काम निबटा लेगा और साथियों सहित 'विक्रम-फार्मेसी' की ओर चल पड़ेगा. मैं उठकर पक्की सड़क पर आता हूं. मजमा देखनेवालों की जमात चल पड़ी है. मैं भी उनके पीछे तेजी से चल पड़ता हूं ताकि तमाशा शुरू होने से पहले पहुंच जाऊं.

विक्रम-फार्मेसी के आगे भीड़ इकट्ठी होती है और कैलास बड़ी बेचैनी से दूकान के बरामदे में चक्कर मार रहा होता है. लोगों की बातचीत से पता चला कि अभी कुछ ही देर पहले परबतिया चमारिन भी मर गयी. मैं भीड़ के बीच झांककर देखता हूं, खून के चकत्तों से भरी मैली-कुचैली चादर से ढकी परबतिया की लाश खाट पर पड़ी है और पास ही बैठा ढेमन चमार अपनी बुढ़िया माई के साथ आंसू बहा रहा है.

मुझसे हृदयविदारक दृश्य देखा नहीं जाता और मैं तिलमिलाकर उधर से निगाहें फेर लेता हूं. मेरी नजर पक्की सड़क पर जाती है. यह देखकर मैं दंग रह जाता हूं कि आज भी ऐन वक्त पुलिस की जीप आ धमकी है. 'पी-पी' की आवाज के साथ लोगों का ध्यान बंटता है और भीड़ भरभराकर फैल जाती है. इंस्पेक्टर परबतिया की लाश को दूर से ही घूरता है और हाथ जोड़े कैलास की ओर बढ़ जाता है. कैलास फुर्ती से झुककर कुर्सी सरका देता है. इंस्पेक्टर तहकीकात शुरू करता है.

कुछ देर तक बातचीत करने के बाद इंस्पेक्टर भीड़ की ओर देखकर कुर्सी पर बैठे-बैठे ही गरजता है, "ढेमन चमार कौन है? उसे इधर लाओ!" डंडाधारी दो सिपाही जीप से कूदकर तुरंत बाहर आते हैं और साहब की ओर भारी कदमों से बढ़ रहे ढेमन के दोनों बाजू हो रहते हैं. ढेमन के पास आते ही इंस्पेक्टर फुर्ती से कुर्सी छोड़ देता है और खौफनाक निगाहों से घूरता हुआ सवाल दागता है, "यह तुम्हारी ही पत्नी थी?"

"जी हुजूर, मेरी ही थी. . ." ढेमन साहब की जलती आंखें देखकर लगभग डर-सा जाता है. "यह तुम्हारी पहली शादी थी या दूसरी?"

"जी. . .पहली मर गयी. यह दूसरी. . .लेकिन इससे क्या. . ."

"हरामजादे कहीं के. . .इससे और 'उससे' क्या लगा रखा है?. . . जो पूछता हूं, साफ-साफ बताओ. . ." वह डपटकर पूछता है, "बोल स्साला, यह तुम्हारी पत्नी थी. . .बोल, सच-सच बोल. . .!"

". . .जी, शादी को दो साल हो गये. . ." ढेमन कहना चाहता है, लेकिन इसी बीच साहब उसके बाल अपनी मुट्ठियों में भींच लेता है और जोर से हिलाते हुए पूछता है, ". . .स्साला, अब भी सच बोल तो छोड़ दूंगा. बोल कि यह तेरी पत्नी नहीं, प्रेमिका थी. . .और तू इसे यहां 'गर्भपात' के इरादे से लाया था..." यह सुनते ही ढेमन को काठ मार जाता है और आंखें फट-सी जाती हैं. वह लगभग चीख पड़ता है, "नहीं-नहीं. . . यह सरासर झूठ है. मेरी माई से तो पूछ देखिए. . .वह भी यहीं है. . ." लेकिन इससे पहले कि उसकी बात पूरी हो, साहब का करारा झापड़ उसके मुंह पर पड़ता है और वह औंधे मुंह जमीन पर जा गिरता है. लेकिन तभी ढेमन की माई आगे बढ़ती है और साहब के पांव पकड़कर गिड़गिड़ाने लगती है, "हुजूर. . .यह अन्याय है. झूठ है. . .वह इसकी ही पत्नी थी. . .किसी से भी पूछ लीजिए. शादी को दो साल हो गये थे." और वह डबडबाई आंखों से भीड़ की ओर देखती है. साहब बड़ी बेरहमी से अपनी लात झटककर उसे नीचे गिरा देता है. साहब सिपाहियों को हुक्म देता है कि एक बुढ़िया को संभाले और दूसरा ढेमन को तब तक हंटर लगाता रहे, जब तक वह सच नहीं बोल देता.

तड़ातड़ डंडे की मार पड़ने लगती है और ढेमन 'बाप-बाप' कर उठता है. कभी लड़खड़ाकर वह नीचे गिर पड़ता है तो कभी लपककर उसके पांव पकड़ लेता है, पर कसाई सिपाही तब तक उसे बेतरह पीटता रहा, जब तक कि मुंह से खून फेंककर वह बेहोश नहीं हो गया. खून से लथपथ शरीर लिये वह औंधे मुंह जमीन पर पड़ा होता है और मैं खामोश खड़ी भीड़ के बीच यह प्रश्न सुलझाने में मशगूल होता हूं कि पुलिस को कैलास ने ही बुलवाया या किसी दूसरे ने. . .?

अपनी डायरी में जाने क्या-क्या लिखने के बाद इंस्पेक्टर अपने अंगरक्षकों के साथ जीप में आ बैठता है. जीप चलने के साथ ही कैलास के होठों पर एक कुटिल मुस्कान उभरती है और हतप्रभ खड़ी भीड़ पर एक नजर डालकर वह शर्ट का कालर खड़ा कर देता है, लेकिन पक्की सड़क पर जाने के साथ ही ब्रेक लगाने की तीखी आवाज के साथ अचानक जीप रुक जाती है. मैं देखता हूं राघव अपने साथियों सहित जीप को घेरे खड़ा है और अब सीधी टकराहट की स्थिति पैदा हो गयी है. सब-के-सब लाठियों से लैस हैं और उनकी आंखों से अंगारे बरस रहे हैं.

पास खड़ा छेदीराम मेरा कंधा सबकी नजर बचाकर हौले-से दबाता है और मैं मुस्कराते हुए अपनी एक आंख टीप देता हूं, लेकिन इसी बीच राघव की दहाड़ सुनाई पड़ती है, ". . . साहब, आपने ढेमन को क्या सोचकर पिटवाया है, इसका जवाब आपको देना होगा. . ." फिर एक झटके से वह अपने साथियों की ओर मुड़कर वहीं खड़ा रहने का आदेश देता है और दो कदम आगे आकर खामोश भीड़ को संबोधित करता है, "तुम लोग वहां खड़े मुंह क्यों ताक रहे हो? चलो, आगे बढ़ो और स्साले कैलास के बच्चे को आज खत्म कर दो. . ." राघव की आंखें अनायास ही मुझसे टकरा जाती हैं और मैं तिलमिलाकर निगाहें झुका देता हूं. कोई आगे नहीं बढ़ता. सभी जड़वत खड़े रहते हैं.

लेकिन तभी सशस्त्र पुलिस भरभराती हुई जीप से बाहर आती है, जिसे देखकर मुझे काफी बल मिलता है. मैं तेजी से कन्नी काटकर बाजार की ओर भागता हूं. मेरे पीछे लोगों की भीड़ भरभरा पड़ती है. राघव खूंखार भेड़िये की तरह भागती भीड़ पर टूट पड़ता है और आंखों में खून लिये डंडे बरसाने लगता है, "स्साले भगोड़े! . . .हिजड़े! ! . . . हम यहां जान देने के लिए आये हैं और तुम मजा मारने आये हो. . ."

तभी पुलिस का जोरदार डंडा पीछे से राघव के सिर पर पड़ता है और उसके सिर से खून की तेज धारा फूट पड़ती है. क्षणभर को उसके पांव लड़खड़ा जाते हैं और आंखों के आगे अंधेरा घिर जाता है. वह तिलमिलाकर वहीं गिर जाता है. राघव के गिरते ही दनादन लाठियों की मार पड़ने लगती है. इसके बाद बंदूक ताने कई सिपाही तेजी से राघव के साथियों की ओर लपकते हैं. इंस्पेक्टर जोर से ऐलान करता है, "यदि आप लोगों ने आगे बढ़ने की कोशिश की तो गोली मार दी जाएगी. . ." और भागते-भागते मैं देखता हूं कि राघव के साथियों ने लाठियां गिराकर आत्मसमर्पण कर दिया है.

पुलिस को हावी देख भीड़ फिर थम-सी जाती है और मैं पास की शिवधारी सिंह की पुलिया पर कुछ लोगों के साथ चढ़ जाता हूं. कुछ लोग फुटपाथ पर पड़े कोयले के ढेर पर भी जा चढ़ते हैं. और हम सभी फिर देख-देखकर मजा लेने लगते हैं. देखते-ही-देखते राघव अपने साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया जाता है. मैं देखता हूं, लहू-लुहान शरीर लिये राघव की कमर में रस्सी बांध एक सिपाही जीप की ओर खींचता चला जा रहा है. राघव की भौंहें अभी-भी तनी हुई हैं और वह रह-रहकर जमीन पर थूक रहा होता है. जीप के पास आकर वह फिर जोर से दहाड़ता है और खा जानेवाली आंखों से भीड़ की ओर देखता है. . . . "छेदी, तुम भी सुन लो. . . सींचन, तुम भी सुन लो. . .और भैरो! तुम भी. . . .स्साले! एक-एक को पहचान रहा हूं. अब की दफा जेल से छूटकर आने दो. . .तुम सबको खत्म न कर दिया तो मेरा भी नाम राघव नहीं. . . .स्साले ! देख-देखकर मजा मार रहे हो. . .? हम क्या कोई चोर-चाई हैं और तुम शरीफ लोग! तुम लोगों को यह नहीं दीखता कि सरासर अन्याय हो रहा है! . . .स्साले, हिजड़े कहीं के! डबाऊ सब! . . ."

और मैं देखता हूं कि भीड़ धीरे-धीरे छंटने लगी है. सभी सिर झुकाए तेजी से मुड़कर अपने घर की ओर बढ़ने लगे हैं. मैं भी दुम दबाकर भागती भीड़ में खो जाता हूं. □

● ए डी/20ए, शालीमार बाग, दिल्ली-110033

■ विवेकानंद
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कई कहानियां प्रकाशित. कहानी 'महुआ छाया' के लिए साहित्य कला परिषद, दिल्ली और एक अन्य कहानी 'शिवलिंगम्' के लिए दिल्ली हिंदी अकादमी द्वारा सम्मानित.
संप्रति : दिल्ली दूरदर्शन के समाचार विभाग में कार्यरत.

विकलांग

मृत्युंजय तिवारी

इतना बड़ा हादसा होने पर भी रहीम चाचा चुपचाप खड़े हैं, निर्विकार. लेकिन इसे निर्विकार नहीं कहा जा सकता. एक अजीब तटस्थता, जो एक खास स्थिति पर पहुंचकर आदमी खुद पैदा कर लेता है. यह तटस्थता रहीम चाचा में क्या सिर्फ आर्थिक संकट के कारण आयी है? ऐसा मैं बस अनुमान लगा सकता था, क्योंकि आर्थिक संकट का शिकार मैं या मेरे जैसे लोग प्रायः होते हैं. तो क्या देर-सबेर रहीम चाचावाली तटस्थता हममें भी चली आयेगी? नहीं, मन के किसी कोने से तीव्र प्रतिवाद उभरता है लेकिन दूसरी ओर से तीखा अट्टहास भी उभरने लगता है. हा. . .हा. . .बच्चू, हमारे शिकंजे से तुम कैसे बचकर निकलोगे. हमारे हाथ बहुत लंबे हैं. इनकी पकड़ से बच पाना मुश्किल है. मैं सोच रहा हूं, इसी किस्म का अट्टहास आज कोई रहीम चाचा की दशा पर भी लगा रहा होगा. कौन है वो? मैं परेशान हो उठता हूं.

"मर जाने दो, उसे बचाकर मैं क्या करूंगा. क्या वो बच पायेगा?" यह रहीम चाचा की आवाज है. मैं चौंक कर उन्हें देखने लगता हूं. मेरे साथ के कुछ लोगों की आंखों में विचित्र भाव उभरते हैं.

कैसा बेदर्द बाप है!

अचानक रहीम चाचा फूट पड़ते हैं, "हां, हां, मर जाने दो उसे. जिंदा रहकर भी क्या होगा. क्या मिलता था उसे? यहां दो जून रोटियों के लाले पड़े हैं. अस्पताल का खर्च कौन देगा. किसी गरीब को जिंदा रहने का कोई हक नहीं! जो जिंदा हैं, कह दो उनसे खुदकुशी कर लें. दुनिया पैसेवालों की है, हम जैसे लोगों की नहीं." और रहीम चाचा फूट-फूट कर रोने लगते हैं.

रहीम चाचा की बातों से कटु सच्चाई झलक रही है. सारे मुहल्ले के लोग उनकी स्थिति से परिचित हैं. सभी को उनसे सहानुभूति है. कोई कहता है, "आप घबराइए मत. हम लोग चंदा इकट्ठा करके भी. . ." रहीम चाचा कुछ जवाब नहीं देते. बस रोते रहते हैं. मैं भारी मन लिये लौट आता हूं.

सोचता हूं, एक बार अस्पताल जाकर सुलेमान को देख आऊं. लेकिन नहीं, जैसा सुना है, देखना बर्दाश्त नहीं होगा. सौदा लेने, बाजार जाते समय, सड़क पर वह ट्रक के बीच आ गया था. ट्रक की शिनाख्त नहीं हो सकी. ड्राईवर गाड़ी लेकर फरार हो गया. एक ही बेटा रहीम चाचा का, वह भी आज हाथ से जा रहा है. अब ले-देकर आयशा रह गयी है. इनकी मां तो आयशा के जन्म के बाद ही दुनिया से विदा हो गयी थी. सोचता हूं, अगर वह जिंदा रहती तो आज उस पर क्या बीती होती. उफ! बहुत शांत और उदार स्वभाव की स्त्री थी वह. छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष का कहीं नामोनिशान नहीं, ठीक रहीम चाचा की तरह. भगवान अच्छे लोगों को ही तो दुखों में ढकेलता है. लेकिन मैंने बहुत बड़ी गलती की.

आज की शिक्षा-प्रणाली हमें कौन-कौन से वरदान दे रही है?. . . . आज की स्वास्थ्य-सेवाएं हमें कैसे-कैसे उपचार दे रही हैं? . . . . आज की सामाजिक-व्यवस्था कितनी-कितनी सहानुभूतियां दे रही है?. . . आज का भुगतभोगी बुजुर्ग, नौजवानों को क्या-क्या उपदेश दे रहा है? . . . और आज का नौजवान किन-किन बातों से परेशान है?—धन, पद और समाज के बीच निम्नवर्ग की नियति को रेखांकित करती एक संवेदनशील कहानी. . . .

माना कि मैं रहीम चाचा की कोई मदद नहीं कर सकता, ऐसी स्थिति के लायक नहीं हूं. लेकिन उनसे सहानुभूति के दो बोल तो बोल ही सकता था. वे मेरे पड़ोस में रहते हैं और भले ही हम लोगों के परिवार के साथ उनका उठना-बैठना ज्यादातर नहीं रहता, लेकिन उनके बच्चों का तो मेरे घर आना-जाना लगा ही रहता है. आयशा आती है, सुलेमान भी यदा-कदा आता ही रहता था और रहीम चाचा से खुद मेरे उम्र का फर्क होने के बावजूद दोस्ताना संबंध हैं. वे हैं भी ऐसे स्वभाव के. हंसमुख, मिलनसार, जिंदादिल, नौजवानों से उनकी रुचि के अनुकूल बातें करना उन्हें खूब आता है. इसलिए उनके इर्द-गिर्द नवयुवकों का जमघट प्रायः लगा रहता है. ऐसे स्वभाववाले रहीम चाचा के मुंह से आज अपने बेटे के संबंध में ऐसी बातें कैसे निकलीं. सुनकर आश्चर्य होता है. लगता है, रहीम चाचा अंदर से काफी टूट गये हैं. मैं क्या कहता उनसे, किस किस्म की सांत्वना देता? मुझे कोई शब्द नहीं मिले, सहानुभूति को दो बोल बोलने के लिए मैं बस उनका दर्द अपने सीने में तीव्र रूप से महसूस करता रहा.

घर पहुंचने पर पिताजी से सामना हो गया.

"रहीम मियां के यहां से आ रहे हो क्या?" उन्होंने गंभीर स्वर में पूछा.

फिर बोले, "मैंने भी सुना है, बेचारे पर बहुत बड़ी विपत्ति आयी है. कैसे संभाल पायेगा वह यह सब?"

"मुहल्लेवाले चंदा जमा करने को कह रहे थे." मैंने जानकारी दी.

"ठीक है, तब ठीक है." पिताजी ने मानो संतुष्ट होकर कहा, "वर्ना उसको बहुत परेशानी हो जायेगी. पान-बीड़ी की दुकान से भला किसी की गुजर होती है? और वो चलती भी कहां है?"

"कारखाने में काम करते रहते तो कुछ बात थी." मैंने तिरछी नजरों से पिताजी की ओर देखा.

"हां, कारखाने में वह चार-पांच साल और नौकरी करता लेकिन बड़े बाबू की धौंस सहने को तैयार नहीं था. बात-बात में उनसे उलझ जाता. बड़े बाबू को भला कैसे बर्दाश्त होगा, उनका ही कर्मचारी उनसे आंख मिलाकर बात करे. परिणाम न जाने किस फाइल या रिकार्ड में उसके रिटायरमेंट की तारीख ढूंढकर घोषित करवा दी इस बेवकूफ ने भी कुछ याद नहीं रखा था. अब भुगत रहा है. वैसे आदमी बहुत अच्छा है. तुम अस्पताल गये थे?"

"नहीं, अभी नहीं गया."

"तो जाकर देख आना चाहिए. रहीम मियां तो तुम्हारे बहुत करीबी हैं." पिताजी ने कहा और अंदर चले गये. मैं अपने कमरे में आकर बिस्तर पर ढह-सा गया. पिताजी के कथन में व्यंग्य है या सहानु-

सम्मान पुरस्कार : एक

अन-अपेक्षित

—जगदीश कश्यप

"हमारी राजू भी नौकरी के लिए हाथ-पैर मार रहा है; लड़की का जहां भाग होगा, शादी हो जायेगी, पर तुम अपने को इतना मत घुलाओ जी. . ." ऐसा कहते ही वह हांफने लगी. जवान बेटी ने धीरे-से मां का सिर उठाकर आले में रखी वैद्यजी की पुड़िया लेकर खोली और मां के मुंह में डालकर पानी का गिलास उसके होंठों से लगा दिया. दो-एक घूंट पीकर मां ने तकिये से सिर टिकाकर आंखें बंद कर लीं.

फौजी को जैसे कुछ याद आ गया था. वह पत्नी के पास से उठा और बैसाखी लगाकर बराबरवाले छोटे कमरे में आया, "बेटे राजू, जरा देखना, ये लिफाफा कहां से आया है?" राजू उस समय शहर जाने की तैयारी कर रहा था...अपनी गर्ल-फ्रेंड से मिलने. उसने उपेक्षित भाव से लिफाफे पर नजर डाली. इससे पहले उसने आहिस्ता-से अपने बालों को संवारकर दीवार में लगे दर्पण में देखा.

वह एक नियुक्ति-पत्र था जो प्राइवेट फर्म से आया था—चौकीदारी की पोस्ट के लिए. यानी उसका पेंशनयाफ्ता फौजी पिता अब चौकीदारी करेगा. देश की चौकीदारी करते हुए तो अपनी एक टांग गंवा बैठा था.

". . .हुम्म चौकीदारी!" वह मन ही मन बड़बड़ाया.

अचानक राजू के दिमाग में आया कि वह नियुक्ति-पत्र ले जाकर फर्म के मैनेजर के आगे गिड़गिड़ाये, 'सर, मेरे पिता को अब आराम की जरूरत है. देश की खातिर उन्होंने अपनी एक टांग गंवा दी है, अपनी तीन बीघे जमीन रहन रखकर उन्होंने मुझे पढ़ाया-लिखाया. ज्यादा पढ़-लिख गया तो क्या हुआ, मैं. . .मैं ये नौकरी करने को तैयार हूं. . .'

"तू बोलता क्यों नहीं रे? कोई ऐसी-वैसी बात तो नहीं है!"

राजू के जी में आया कि वह बापू के सामने फूट-फूटकर रो पड़े. □

● डी-32, गली मिटी डाकघर, गाजियाबाद-201001 (उ.प्र.)

मूति, समझ नहीं सका. इस समय बहुत बोझिल था. विचार कई दिशाओं में दौड़ लगा रहे थे. सामने रैक पर किताबें बेतरतीब पड़ी हुई थीं. फाइनल ईयर का एग्जाम सिर पर है. दुनिया किस तरह बदतर होती जा रही है और आर्थिक संकट आदमी को कैसे तोड़ देता है, यह सब मेरी आंखों के सामने है. इस बदतर में कैसे अपने-आपको बेहतर बनाया जाये, यह मेरे सामने एक समस्या है. क्या नौकरी? लेकिन आजकल नौकरी के बारे में सबको अच्छी तरह पता है. कितने ग्रेजुएट बेकार घूम रहे हैं.

मैं किताब उठाता हूं. ऐसी मनस्थिति में कुछ पढ़ना भी मुश्किल है. आजकल घर की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं. इस बार कर्ज में दब-सा गया है. पिछले साल बड़ी बहन की शादी हुई. अब छोटी बहन वीणा के लिए भी तीन-चार साल बाद दौड़धूप करनी होगी. फिर मेरी और वीणा की पढ़ाई का खर्च. अकेले पिताजी की नौकरी पर यह सारा बोझ टिका हुआ है, ग्रेजुएट होने के बाद मुझे नौकरी मिल जायेगी, इसकी क्या गारंटी है. आगे के बारे में सोचते ही एक अव्यक्त घबराहट-सी मन में होने लगती है. 'आज' के बारे में क्या मैं नहीं जानता? सिफारिश, पैरवी, घूस तमाम किस्म के चोंचले हैं. अखबारों में नौकरियों के विज्ञापन देखता हूं. भारी भरकम डिग्रियों की मांग, एक्सपीरियेंस पर्सन! नौकरी मिलेगी तभी तो एक्पीरियेंस होगा. लेकिन नहीं, नौकरी देनेवालों, इससे कोई मतलब नहीं. तब नौकरी की आशा मेरे जैसे लोगों को छोड़ देनी चाहिए. फर हम क्या करें? ये मंहगी पढ़ाई की आशा मेरे जैसे लोगों को देनेवालों का इससे कोई मतलब नहीं? नौकरी की आशा मेरे जैसे लोगों को छोड़ देनी चाहिए. फिर हम क्या करें? ये महंगी पढ़ाई और सो भी बेढंगी, सिर्फ नौकरी के लायक ही तो बनाती है. सामने विकराल, अंधकारमय भविष्य दूर-दूर तक फैला नजर आता है. आज के लड़के की आंखों में चिंता की परछाइयां होश संभालते ही मंडराने लगती हैं.

मुझे लगता है कि यह सब व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत की गयी बैसाखियों के सिवा कुछ नहीं है. डिग्री की बैसाखी अब पुरानी पड़ने लगी है. और यकायक, मुझे अपना सारा अस्तित्व एकदम विकलांग-सा महसूस होने लगता है.

वीणा दौड़ती हुई आती है, "भैया, रहीम चाचा के यहां गये थे?"

"क्यों, क्या बात है?"

"आयशा दो-दो बार बेहोश हो गयी थी. होश में आने पर तबसे लगातार रो रही है. बेचारी पर बहुत बड़ा दुख पड़ा है."

"अच्छा." मैं खामोश रहता हूं.

आयशा का खयाल आते ही हृदय में कचोट का अनुभव होता है. वीणा की उम्र की है. रहीम चाचा की नौकरी तक पढ़ती थी. अब तो घर के काम-काज से ही फुर्सत नहीं मिलती. पिछले साल न जाने किस रौ में आकर मैंने उससे राखी बंधवा ली थी. सोचता हूं, मुझे अस्पताल चले जाना चाहिए. न जाना बहुत बड़ी गलती होगी.

रात को मुझसे खाना नहीं खाया गया. सुलेमान की हालत काफी गंभीर थी. डाक्टर ने बताया कि एक पैर बिल्कुल डैमेज हो चुका है काटकर अलग कर देना होगा. सुनकर शरीर में सिहरन-सी दौड़ गयी थी. रहीम चाचा वहीं पागलों से चिल्लाने लगे थे.

कई लोग उन्हें संभाले हुए थे.

आज मुहल्लेवालों की चर्चा का विषय रहीम चाचा है. उनकी विपत्ति, विपन्नता, नेक स्वभाव आदि पर टिप्पणियां हो रही हैं. चंदा उगाहने का काम आज से ही शुरू हो गया है. सुलेमान अगर बच भी जायेगा तो भी एक पैर कट जाने पर. . .? रहीम चाचा का तो मानो दाहिना हाथ ही टूट गया. बुढ़ापे का सहारा, अब वह सहारा क्या देगा, उसे ही जिंदगी भर आश्रित बनकर रहना पड़ेगा. यह और भी सालनेवाला दुख है! मैंने सोचा. मुहल्ले के कई लोग कह रहे थे कि रहीम चाचा ने जरूर कोई पाप किया होगा, जिसका फल भगवान उन्हें दे रहा है.

दो महीने गुजर गये. सुलेमान अभी तक अस्पताल में है. उसका डैमेज पैर काट दिया गया है. अब वह तेजी से अच्छा हो रहा है. इसी बीच रहीम चाचा की कमर कुछ ज्यादा झुक गयी है. अगले हफ्ते से फाइनल ईयर की परीक्षा आरंभ होनेवाली है, मेरी पढ़ाई में डिस्टर्ब न हो इसलिए घरवालों की तरफ से सख्त ताकीद है, मैं रहीम चाचा से संबंधित मामलों में बिल्कुल ध्यान न दूं. मैं भी किताबों में पूरी तरह उलझ जाना चाहता हूं.

कभी-कभी अस्पताल हो आता हूं, सुलेमान को सांत्वना देने के बहाने के लिये. रहीम चाचा ने अपनी पान-बीड़ी की दुकान बेच दी है. चंदे से क्या होगा. फल, दवाइयों आदि के लिए भी तो पैसे चाहिए. अब रहीम चाचा की गुजर कैसी होगी?

यह सोचने की मुझे फुरसत नहीं है.

आज अचानक दरवाजे के बाहर आवाज आयी.

"मां जी, कोयला ले लो."

यह आयशा थी. पहले तो मैं पहचान नहीं सका. उलझे-बिखरे हुए केश, फ्रॉक जगह-जगह से फटी हुई, हाथ-मुंह-पैरों पर कोयले की परत जमी हुई देखकर मैं स्तब्ध रह गया.

"तू कोयले बेचने लगी है?"

"हां भैया, पेट के लिए कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता है." उसने बुजुर्गों की भांति जवाब दिया.

"अच्छा-अच्छा." मैं आगे कुछ न कह सका. वह आंगन में चली गयी.

"मां, कोयला चाहिए?"

"नहीं बेटी, अभी हमने परसों ही खरीदा है."

यह मां की आवाज थी.

"ओह!" वह मानो निराश हो गयी. मैंने आगे बढ़कर कहा, "ले लो न मां, बेचारी जाने कहां से चुनकर कोयले लायी है."

मां ने मेरी ओर कड़ी दृष्टि से देखा, "क्या फायदा होगा फालतू कोयले लेने से? . . . और अभी मेरे पास पैसे नहीं हैं."

आयशा ने कुछ नहीं कहा. बस एक स्थिर दृष्टि मां की ओर डालकर चुपचाप बाहर चली गयी.

"मां, तूने मुझे बताया क्यों नहीं कि आयशा कोयले बेचने लगी है?"

"क्या फायदा होता कहकर. तू क्या दुनिया की गरीबी मिटा सकता है? ये अभागे लोग हैं. किस-किस की गरीबी दूर करेगा? पहले अपने घर की गरीबी मिटा."

सुनते ही मेरा हाथ अपनी दाहिनी कलाई पर चला गया. . . और मुझे एकदम से रोना आ गया. "मां, तुमने ये अच्छा नहीं किया."

किताबों की तह में पांच रुपये बचाकर रखे थे. उन्हें निकालकर मैं बाहर की तरफ दौड़ा. "सुनो, सुनो. . ." मां पुकारती रह गयी.

प्रैक्टिकल की अंतिम परीक्षा देकर मैं अस्पताल चला गया. वहीं रहीम चाचा से भेंट हो गयी.

"तुमसे मुलाकात नहीं होती?" उनका पहला प्रश्न था.

"नहीं, मैं तो प्रायः अस्पताल आता हूं. वैसे आजकल परीक्षाएं चल रही थीं." मैंने जवाब दिया.

"ओह, खूब मन लगाकर पढ़ो बेटा. लेकिन आजकल पढ़ाई-लिखाई से कुछ नहीं होनेवाला."

मैंने आश्चर्य से उन्हें देखा.

"हां, कुछ बनना चाहते हो तो बेटे. . ." वे मेरे करीब खिसक आये और मानो कोई भेद भरी बात बता रहे हों, इस तरह फुसफुसाते हुए बोले, "ईमानदारी, नेकी और सच्चाई का जुग नहीं है ये. कोई उल्टा-सीधा काम करो, दो नंबरी . . .पढ़ने से कुछ नहीं होता. अब देखो न, मेरे जैसा ईमानदार आदमी कोई होगा? पुराने जमाने का मिडिल पास हूं. लेकिन मेरी क्या हालत है. तुम देख रहे हो. दाने-दाने को तरस रहा हूं. तन ढंकना मुहाल है. बेटे का सही इलाज नहीं करा सकता. क्या मिला मुझे अच्छाई का रास्ता पकड़कर?"

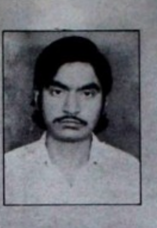

▣ मृत्युंजय तिवारी
—जन्म : मार्च, 1957, (अरक, भोजपुर)
शिक्षा : बी.कॉम.
—"कहानी लेखन में बचपन से ही रुचि रही है. अपने साहित्यिक विकास के लिए गंभीरता से प्रयत्नशील हूं."
संप्रति : बंगाल पेपर मिल, रानीगंज में कार्यरत.
—पहली कहानी 'सारिका' (जनवरी '83) में 'आते हुए लोग' के अंतर्गत प्रकाशित हुई.

मुझे लगा, रहीम चाचा कुछ विक्षिप्त-से हो गये हैं.

"तुम समझते होगे, मैं ऊल-जलूल बक रहा हूं लेकिन नहीं बेट यह मेरा जिंदगी भर का निचोड़ है. अब देखो न, पैसे की कमी के चलते सुलेमान को पूरा खून नहीं दिया जा सका. डाक्टर दो बोतल और खून मांग रहे थे. कहां से दें? यहां रोज बीस-पच्चीस रुपया का खर्च है. कैसे आयेगा? कंपाउंडर को कुछ न कुछ खिलाते रहना पड़ता है, तब वह ढंग से मरहम-पट्टी करेगा. डाक्टर के सामने हजार बार दांत निपोरो, तब वह आकर मरीज को देखेगा. बगलवाले बेड के लड़के को देखते हो, पीलिया का रोगी है. लेकिन सब जानते है, इसका बाप एक नंबर का 'दो नंबरी' आदमी है. सब इज्जत करते हैं, सब डरते हैं. डाक्टर, कंपाउंडर हाथ जोड़े रहते हैं. आज इसके लिए अंगूर की पेटी आ रही है. कल सेब, परसों कोई दूसरी चीज, और हमारे बेटे को. . .?"

मैं खामोश खड़ा रहा.

"इसीलिए कहता था बेटे, ईमानदारी का जीवन कभी मत बिताना. मैंने वो जीवन बिताकर देख लिया. कारखाने से ईमानदारी की वजह से निकाला गया. वहां काफी हेराफेरी चलती थी. बड़े बाबू से लेकर मजदूर तक सभी मिले हुए हैं. आज ये पुरजा बेच दिया, कल वो, ऐसा करने के लिए मेरे पास हजारों मौके आये, लेकिन कसम अपने सुलेमान की, मैंने कभी ऐसे कामों में हाथ नहीं डाला. ये कमबख्त ईमानदारी कुछ ऐसी आदत बन गयी है कि मेरा पीछा ही नहीं छोड़ती और जानते हो दुकानदारी में भी ईमानदारी नहीं चलती. मैं इसलिए कह रहा हूं बेटे कि तुम अभी जवान हो, तुम्हें अभी जीना है. बोलो, मेरी बात मानोगे?"

मैं चुप रहा.

हृदय में उथल-पुथल मच रही थी. काफी गंभीर क्षण मेरे सामने मौजूद था.

रहीम चाचा ऐसी बात पूछ बैठेंगे, यह मैंने कल्पना भी नहीं की थी.

"बोलो, चुप क्यों हो?" रहीम चाचा कुछ उत्तेजित होकर बोले.

"रहीम चाचा!" मैंने रुक-रुक कर कहा, "दुनिया को देखने का अभी तक आपके जैसा चश्मा मेरी आंखों पर नहीं चढ़ा है. अगर आगे चढ़ जाये तो नहीं कह सकता. या हो सकता है दुनिया के बारे में मेरा अनुभव आपके अनुभव से कुछ अलग हो. फिलहाल तो निर्दोष आंखों से ही दुनिया को देख रहा हूं. दुनिया ऐसे ही रहने देगी तो ठीक, वरना दुनिया की तरह मुझे भी बनना पड़ा तो मैं हिचकूंगा नहीं."

"तब तक बहुत देर हो चुकेगी बेटे, मेरी तरह." रहीम चाचा मायूसी से हाथ मलते हुए बोले. □

● बंगाल पेपर मिल, पॉवर हाउस, पो. बल्लभपुर, जिला : बर्दवान (पश्चिमी बंगाल)

सम्मान पुरस्कार : दो

कार्टून

विकास कुमार झा

क्या जिंदगी में वे सभी सपने पूरे हो जाते हैं जो आदमी शुरुआत में देखा करता है? कैसे होते हैं ये सपने और इनकी नियति? एक युवा पत्रकार की जिंदगी की असलियत का खुलासा करती एक युवा हस्ताक्षर की कहानी—

सपने. . .देर तक वह इस शब्द को मन ही मन उलटता-पलटता रहा. वह चाहता था बिल्कुल ठंडे दिमाग से सब कुछ सिलसिलेवार सोचना. पर ऐसा संभव नहीं था. काफी समय तक उसने माथा-पच्ची की कि आखिर हालात ऐसे क्यों हो गये. . .पर वह कोई सटीक कारण नहीं ढूंढ़ सका.

कल रात से एक वाक्य उसे गुंजलक की तरह जकड़े हुए था, "तुम जो अपने एक छोटे से परिवार के सपनों को पूरा नहीं कर सके. . .देश और समाज के सपने पूरे कर सकोगे. . .तुम. . .? निशी तुमसे बहुत उम्मीदें थीं. . .बहुत. . . मिश्राजी का लड़का अरविंद, उसने तो तुम्हारे साथ ही बी. ए. किया था न. . .आई. पी. एस. में आ गया इस बार. . ." कभी भी किसी मसले पर उससे कैफियत नहीं तलब करने वाले उसके पिता ने उससे कहा. क्षोभ व निरीहतापूर्वक. उसे लगा कि यकबयक खून का बहाव शरीर में ठहर गया है और हवा फेफड़े में जम गयी है. उसके पास उत्तर देने लायक कुछ भी नहीं था. अपने आदर्शों व उद्देश्यों के बारे में अपना संवाद वह मां के जरिए समय-समय पर पिता तक पहुंचाता रहा था और सुनकर पिता बिहंसकर रह जाते. अरविंद! हमेशा उसके नोट्स के भरोसे परीक्षा देने वाला लड़का आई. पी. एस. में आ गया. . .यह सूचना पिता ने एक बुझे हुए तीर की तरह उसकी तरफ फेंकी थी. उसे चुभी, पर उसने सिर झटककर भाव यों व्यक्त किए मानो उसके सीने पर लगे कवच से टकराकर वह तीर टूट गया हो. वह सोचता है कभी कोई हादसा हुआ और घटनास्थल पर अपने अखबार की रिपोर्ट 'कवर' करने वह पहुंचेगा जहां का एस. पी. होगा अरविंद. तब वह कैसे उसके रूबरू हो सकेगा. . .कैसे. . .? कोनिश करते सैकड़ों बंदूकधारी. . .खानसामा. . .अर्दली. . .पूरा रुतबा. . .और वह एक फटीचर कलमघिस्सू. . .

उसे हंसी आती है, दफ्तर में अपने सहकर्मियों के बीच वह कहा भी करता है अपने अखबार के नाम के नीचे रोज छपने वाले इन हरफों के बारे में, 'बिहार का स्वतंत्र और निर्भीक दैनिक' कि इसकी बजाय छपना तो यह चाहिए, 'बिहार का परतंत्र और भयभीत दैनिक.' सच भी तो यही है. डेस्क पर वह हर रोज यही देखता व करता है. खबर बनाते समय हर वक्त एक ही बात मन के सबसे ऊपर रहती है कि उसके मालिक से किन लोगों के कैसे रिश्ते हैं. . .किस नेता से उनका क्या समीकरण है लिहाजा उन लोगों की खबर कैसे जानी चाहिए. उसे लगता है कि अखबार सही खबरों का कब्रगाह है. . .जहां कई सही समाचारों की दैनिक अंत्येष्टि की जाती है.

हुक्म मेरे आका. . .चिराग की लौ से धुएं का सैलाब उठा और उसमें से उभरकर एक दैत्य ने सजदे में पूछा. वह एकदम से अचकचा कर रहा गया. उसने गौर किया, खुद को टटोला. आवाज उसके भीतर की थी. उसी की. आज वह अपने आपको झिंझोड़कर पूछना चाहता है कि आज से छः-सात साल पहले संवेदनशील कविताएं और कहानियां लिखने वाला उसके अंदर का भावुक पात्र अचानक कहां खो गया या कि मन के किसी अज्ञात बियाबान हिस्से में आहिस्ते से दफन हो गया और उसे हवा तक न लगी. वहीं मन के सूनसान-वीरान हिस्से में एक दैत्य घूमता है. . .रेत में लोटपोट कर. . .तड़फकर उठ खड़ा होता है. . .लप-लपाती हुई जीभ खून की तलाश में. . .हादसों की तलाश में. . .क्रूर अट्टहास के संग कि भाई आज प्रदेश में कितने खून हुए? बताओ दंगे में कितनी लाशें गिरीं? अस्पताल में नकली दवा खाने से उस कितने लोग भगवान को प्यारे हुए. . .? क्या आज कोई हादसा नहीं. . .? कोई बलात्कार नहीं. . .कोई दुर्घटना नहीं. . .? उफ सच में बुरी खबर है. . . कल सुबह लोगों को अब क्या पढ़ने को मिलेगा खाक. . .अपने इस बिल्कुल बदले हुए हिंस्र स्वभाव के बारे में वह सोचता है. जीवन की दिनचर्या-सी बन गई है ये बातें. उसे बेचैनी घेरने लगती है. अभी परसों की ही तो बात है. रोहतास के संवाददाता ने टेलिफोन पर यह सनसनीखेज खबर दी कि श्रृंगेरी गांव में ग्यारह हरिजन टुकड़े-टुकड़े कर डाले गए. वह अब याद करता है तत्काल यह खबर सुनकर वह रोमांचित नहीं हुआ और न ही टुकड़े हो चुके निरीह लोगों के वास्ते सहसा मन ही विचलित हुआ. बल्कि हुई एक उल्लास मिश्रित बेचैनी.

संपादक तब तक घर जा चुके थे. दौड़ता हुआ वह नीचे मशीन रूम में गया. मशीनमैन तिवारी को कहकर अखबार का छपना तत्क्षण रुकवाया और तेज-तेज कदमों से फोन मिलाया, "सर, रोहतास के एक गांव में ग्यारह हरिजनों के टुकड़े कर दिए गए. कल का बैनर यही सर. . .हंगामा हो जाएगा. . .हंगामा. . .अखबार हाथों हाथ उड़ जायेगा अपना. . .किसी दूसरे अखबारवाले को यह खबर नहीं मिली है. . . बिल्कुल स्कूप है सर. . .स्कूप. . ." यह सब एक सांस में वह कह गया था और सुबह जब अपनी लिखी रिपोर्ट बिस्तर पर पड़े-पड़े उसने पढ़ी तो पुलक उठा. कई बार उसने पढ़कर दुहराया. . .धुआंधार सिगरेट पी. . .स्कूप. . .छक्के छुड़ा दिए आज सभी अखबारों के. यह कल्पना उसके मन में थिरक उठती है कि आज शहर के दूसरे दैनिक पत्रों में काम करने वाले उसके दोस्त खिसियानी हंसते हुए उससे कहेंगे, "बेटा, आज लूट लिया हम सबको. . .सरेबाजार!" फिर इस इस खुशी में वह सबको जनक की दूकान पर नीबू की चाय पिलाएगा. अरे खबरों में सुर्खी लगाने की कला आनी चाहिए कला, . .कि अखबार देखते ही लोग लपकें . . .शीर्षक ऐसे फड़कते हों कि मजे हुए बाजीगर की तरह सबको सम्मोहित कर लें. पत्रकारिता करनी है तो पहले यह कला सीखो. उसे अपने एक एक पुराने साहित्यकार मित्र की बात याद आती है तो हंसी छूटती है. वह कहा करता था, 'जानते हो दुनिया का सबसे बड़ा साहित्य है अपना छपा हुआ नाम. . .यही विराट और अंतिम सत्य है. सच में बात बिल्कुल सटीक है और शोध करने के उपरांत ही मानो कही गयी है. अखबार में छोटे काले अक्षरों में दमकता छपा नाम ही तमाम आदर्शों की नियति बन गया है. उसका सहकर्मी शरद चौधरी उससे गलत नहीं कहता, "भैये, अखबारनवीसी की एक ही बस तासीर है कि तेरी जेब में भले ही फूटी कौड़ी न सही. . .पेट में दाने न सही फिर भी तू किसी भी बड़े मंत्री से हाकिम-हुक्काम से जिस अकड़ में बात कर सकता है वैसा साहब इस देश का कोई दूसरा भुक्खड़ नहीं कर सकता."

कल वह खाद्य-आपूर्ति मंत्री यादवजी के यहां गया था. अपने मालिक के निर्देश पर उनके 'विभागीय कार्यकलाप की प्रगति और उसमें यादवजी के योगदान' संबंधी ऐतिहासिक सूचना प्राप्त करने. वहां इंतजार करते-करते जब पूरे डेढ़ घंटे बीत गए तो उसके भीतर का पत्रकार जागा. उफनते हुए वह यादवजी के पी. ए. के पास गया और तेज सांस में कह गया, "कह देना अपने मंत्रीजी को. . .ऐसे-ऐसे नेताओं को हम ठेंगे पर रखते हैं." पी. ए. ने उससे इस दुस्साहस पर उसकी तरफ बिफर कर देखा. वह दनदनाता हुआ यादवजी के बंगले से निकल गया. तब शाम के सात ही बजे होंगे जब संपादक उसकी कुर्सी के पास आकर खड़े हो गए थे. चेहरे पर बेचैनी गहराई थी. उन्हें देखते ही वह फौरन कुर्सी छोड़कर खड़ा हो गया, "क्या है सर. . .खुद आप? चपरासी भेजकर बुला लिया होता. . ." संपादक बिना कुछ बोले बरामदे की तरफ बढ़ गये. यंत्रवत् वह भी पीछे हो लिया.

"तुमने आज यादवजी के पी. ए. को क्या कहा?" अपनी आंखों व उनपर चढ़े पावरयुक्त चश्मे के शीशों की संयुक्त ताकत से मानो उसे तौलते हुए संपादक ने पूछा. एक क्षण के लिए उसे लगा कि यह सवाल नहीं एक 'क्रेन' है जिसने एक झटके में उसे ऊपर टांग लिया है और वह झूल रहा है हवा में इधर. . .उधर. . .

"घंटे भर मैं इंतजार करता रहा सर और. . ." वाक्य बगैर पूरा किए हुए आहिस्ते से उसने कहा.

"जानते हो अभी अपने मालिक का फोन आया था. यादवजी सख्त नाराज हैं. तुम्हें इसके लिए उनसे माफी मांगनी होगी. तुम जानते हो अपने मालिक से उनके कैसे रिश्ते हैं!" संपादक की इस निर्देशयुक्त सूचना में, क्रोध, स्नेह,अफसोस सब मिश्रित था. कुछ देर तक वह एकदम खामोश रहा फिर खुद को भीतर से मजबूत करते हुए बोला, "तब मेरा इस्तीफा ही ले लीजिए. . ." लेकिन उसने महसूस किया उसकी आवाज यह कहते क्षण थोड़ी भर्रा गयी थी.

"फिर हुई न वही बच्चों वाली बात! स्थितियों को समझा करते हैं. . .हरदम इस्तीफा. . .कहां मिलेगी नौकरी. . .सोचो कहां जाओगे. . .?' संपादक ने अभिभावक की शैली में लाड़युक्त झिड़की देकर कहा. वह

■ विकास कुमार झा.
संप्रति 'रविवार' में कार्यरत
'बिहार की हिंदी कहानियां' का संपादन.

पत्रकारिता में रहने की वजह से रोज-ब-रोज हादसों, वारदातों और अजीबोगरीब चरित्रों से रूबरू होता रहता हूं. रिपोर्ट के रूप में जहां यह प्रसंग ठंडे शब्दों का निरपेक्ष ब्यौरा होता है वहीं इन सबके पीछे आदमी की तड़पती संवेदना जब कभी बहुत ज्यादा बेचैन कर जाती है तो वह कहानी का रूप ले लेती है.

जानता है यह नौकरी छोड़ देने पर उसे तुरत कहीं और नौकरी नहीं मिल सकती. लेकिन क्या करे वह. . .उसका जी करता है कि संपादकीय कक्ष के डेस्क पर सिर धुन-धुनकर रोए-चिल्लाए या फिर खबर उगलते निरंतर घरघराते टेलिप्रिंटर से टकराकर अपना भी सिर फोड़ ले और टेलिप्रिंटर को भी चकनाचूर कर दे. अपने अखबार में छपने वाले कार्टून को वह देखता है और सोचता है कि सही में इस अखबार का जीता-जागता कार्टून वह खुद है. अक्सर हास-परिहास में कार्टूनिस्ट रंगनाथन को वह कहता भी है-"अमां यार कार्टून बनाने की जरूरत ही क्या है. . .बारी-बारी से उसकी जगह यहां के हम तमाम उपसंपादकों व संवाददाताओं की ही तस्वीर छाप दो. यही सबसे पैना व्यंग्य है." रंगनाथन पेंसिल से सिर खुजाने लगता है, "भाई, अपनी बीवी छः महीने से बीमार चल रही है. डाक्टर ने ऑपरेशन बताया है. . .हजारेक रुपए लगेंगे. संपादक को अर्जी दी 'लोन' के लिए, खारिज हो गया. . .'ओणम' बीत गया लेकिन पर्व के मौके पर भी बीवी बच्चों के लिए नए कपड़े नहीं सिल सके. . .मैं साला कार्टूनिस्ट. . ." टूटी फूटी हिंदी में केरल का मूल निवासी रंगनाथन बिखरने लगता है.

वह समझता है संपादक यों ही एक झटके में उसे नहीं निकालेगा. क्योंकि जिस तरह गधे की भांति वह अखबार के पहले पन्ने से अंतिम पन्ने पर खटता है वैसा खटनेवाला कोई दूसरा गधा अभी संपादक की नजर में फिलहाल कोई नहीं है. संपादक वापस अपने चेंबर में चले गए. फिर थोड़ी देर बाद उसे बुलवा भेजा. कुछ देर तक मौन रहने के बाद बोले, "तो तुम माफी नहीं ही मांगोगे? ठीक है तुम्हारी बजाय मैं ही मांग लेता हूं. . .शायद तुम यही चाहते हो." वह मौन रहा. जड़वत! फोन का डायल घुमाकर संपादक ने पूछा, "कौन सत्यनारायणजी! यादवजी से बात हो सकती है?" यादवजी शायद फोन पर आ गये "क्षमा करेंगे, आज मेरे कार्यालय संवाददाता ने आपके पी. ए. से कुछ कह दिया था. नौजवान है. . .दुनियादारी और लोगों की परख नहीं है. . . जल्दी तैश में आ जाता है. अरे मैं माफी मांग रहा हूं उसकी तरफ से. . . हां, अरे नहीं बस सब ठीक है जरा हमारे बॉस से बात कर लेंगे. आप आपका कोई वक्तव्य. . .ठीक है जल्दी भिजवा दीजिए. . .हां. . .अभी तुरंत. . ." संपादक ने रिसीवर रखकर एकबार बिंधनेवाली दृष्टि से उसे देखा उसे लगा वह चिथड़ा-चिथड़ा हो गया है. उसे संपादक पर भी दया आयी. साथ ही मंत्री के पी. ए. को कही बात पर भी उसे अफसोस हुआ. उसकी खातिर संपादक को आज एक टुच्चे नेता से माफी मांगनी पड़ी.

दफ्तर में उसके नाम-पते का एक लिफाफा डाकिया दे गया. फाड़कर देखा उसने लिली का था. वह खुशी से सिहर उठा. इसी शहर में वह भी है, लिली भी और लिली ने उसे डाक से चिट्ठी भेजी है. सच, पिछले दिनों की व्यस्तता से वह चाहते हुए भी उससे मिल नहीं सका. पूरे दस दिन बीत गए. लिली तीखे व्यंग्य करती है. उसने लिखा है, 'मैं ईश्वर से प्रार्थना कर रही हूं आजकल कि मेरे साथ कोई हादसा हो जाए.'

सम्मान पुरस्कार : दो

उलझन

नसीर इस्माइली

द्विधा ने सपने में भी नहीं सोचा था कि डैडी की बात खुद उसको दुविधा में डाल देगी. . .

उस दिन शाम को गौरव से मिलकर लौटी. डिनर लेने के पश्चात बंगले के कंपाउंड में डैडी इजी चेयर में 'इजी' मूड में थे, तभी द्विधा ने थर्राती आवाज में आहिस्ता से पूछा था, "डैडी, एक महत्वपूर्ण पर्सनल बात करना चाहती हूं!"

"वेरी गुड डार्लिंग! हमारी बिटिया की अब पर्सनल बात करने की उम्र हो गयी, क्यों! बोल बेटी कौन है वह खुश किस्मत लड़का, जिसके बारे में तुम बात करना चाहती हो?"

"डैडी, आपको कैसे पता चला कि मैं किसी लड़के के बारे में ही कहना चाहती हूं?"

"बेटी, जब बात करते वक्त जवान लड़की के गालों पर लज्जा की लालिमा छाने लगे तो मां-बाप को उस लालिमा की भाषा समझ लेनी चाहिए. और फिर मैं तो तुम्हारा डैडी-मम्मी सब कुछ हूं न!" वात्सल्य भरी चपत लगाते हुए डैडी ने कहा था.

"गौरव है उसका नाम. गवर्मेंट में क्लास वन अधिकारी है, लेकिन पिछड़ी जाति का है." द्विधा ने निगाह झुकाए उत्तर दिया था और उस निगाह को ऊपर उठाते हुए डैडी ने खुले दिल से कहा था, "ओ. के. कोई बात नहीं. इस रविवार को उसे लंच पर बुला लेना."

. . .और आज रविवार को लंच लेने के बाद बरामदे में बांस की कुर्सी पर बैठे हुए गौरव और डैडी के वार्तालाप के दौरान द्विधा मौन धारण किये बैठी थी. . .

"पूरा नाम क्या है आपका?" डैडी ने पूछा.

"जी गौरव! गौरव शाह!" हिचकिचाते हुए गौरव ने कहा.

"पहले से ही यह नाम है या बाद में चेंज किया?"

"जी नहीं, बचपन का असली नाम तो . . . हमारी पिछड़ी जाति का . . .गाभा जी! लेकिन बाद में नाम और उपनाम दोनों बदल लिया. गजेट में भी आ गया है!"

और जब गौरव ने विदा ली उसके बाद द्विधा ने लाड़ भरे अंदाज में पूछा, "डैडी, कैसा लगा गौरव? सही और स्पष्ट राय दीजियें. . .आप की राय मेरे लिए खास अहमियत रखती है."

"तुमने जब निर्णय ले ही लिया है फिर मेरी राय का कोई महत्व नहीं रहता. फिर भी. . .गौरव पिछड़ी जाति का है या गरीब अथवा अनामत का आसरा लेकर गजेटेड अधिकारी बन गया. यानी इंटलेक्चुली वह तुम्हारा समकक्ष नहीं आदि बातों को मैं खास महत्व नहीं देता. वर्णाश्रम की मेरी अपनी व्याख्या है. अविरत संघर्ष का नाम ही जिंदगी है और उस संघर्ष में जो झुक जाता है वह शूद्र है, संघर्ष से जूझता रहे वह क्षत्रिय है, संघर्ष के साथ समाधान तलाशता रहे वह वैश्य है और उस संघर्ष के भीतर से जो विधायक संवादिता का सृजन करे वह ब्राह्मण है. उसकी भावना, जिसे तुमने प्यार का नाम दे रखा है, यह ऊंचे कुल के नाम की तरह ऊंचे कुल की पत्नी धारण करने का उसका अहं मात्र हो, क्या यह नहीं हो सकता?" डैडी ने स्वस्थ निर्लेपता से कहा। और उठकर क्लब चले गये.

. . .लेकिन डैडी की इस बात ने द्विधा के प्यार की नींव को जड़मूल से झकझोर कर द्विधा को उलझन में डाल दिया है. देखें, अब द्विधा क्या करती है? क्योंकि यह किसी एक द्विधा का तो सवाल नहीं है न? □

● दरियापुर पोपटियावड, 2985, काजी मोहल्ला, अहमदाबाद

क्योंकि हादसा होने पर ही तुम्हारे अखबार के लिए सनसनीखेज खबर बनेगी और तभी तुम मुझसे शायद मिलने आ सको. . .' पढ़कर वह रोमांचित हो उठता है. क्या सच में लिली भी उसके बारे में ऐसा सोचने लगी है? लिली से कई बार उसने हंसी-हंसी में कहा भी है, "लिली, जिंदगी में ऐसे लोगों से प्यार कभी नहीं करना चाहिए जिसकी जिंदगी हरदम खतरे में हो . . .एक तो डाकुओं के सरदार से. . .किसी फौजी से या फिर किसी पत्रकार से. डाकू का सरदार पता नहीं पुलिस से मुठभेड़ में कब मारा जाय. . . .जंग में लड़ते फौजी की जिंदगी का भी कोई ठीक नहीं और उसी तरह एक पत्रकार भी. . .जो हरवक्त दूसरों के खिलाफ खबरें सूंघता फिरता है. उसके निजी जीवन पर भी अनगिनत आंखें घात लगाए बैठी रहती हैं. . ."लिली तुम जैसी फूल-सी लड़की नाहक घात की नजरों में क्यों फंसो. . .? लिली प्यार के बारे में लंबी बहस कर सकती है. मैं देर तक लिली को इसी तरह बहसतलब देखना चाहता हूं. . .उसकी खुद की शुरू की हुई एकतरफा बहस. . .खतरा. . .प्यार. . .जिंदगी. . . इस त्रिभुज में वह अपने आपको मोड़ लेना चाहती है. वह पूछती है, "निशि, तुम्हारे प्यार का रूप क्या है, नेपोलियन जैसा, डाकू मानसिंह जैसा याकि पाब्लो नेरुदा सरीखा."

सपने. . .पिता के शब्द उसे फिर से कुरेदने लगते हैं. सच, क्या उसमें किसी के सपने का एक हिस्सा भी पूरा करने की हैसियत है. सपना अपने पिता का, मां का या लिली का. . .उसके मन में सब कुछ गड्मड् होने लगता है. उसे याद है उसने कुछ उद्देश्यों के तहत इस पेशे में आना तय किया था. सभी अच्छी नौकरियों की संभावनाओं को ठोकर मारकर. . . .सामाजिक जरूरत. . .असमानता के विरुद्ध सार्थक स्वर. . .उन दिनों इन बातों में चुंबकीय शक्ति थी जिससे खिंचकर एक दिन उसने घर में एलान कर दिया कि उसने अपना भविष्य तय कर लिया है. अब जबकि विश्वविद्यालय का कोई लड़का उसके पास इन जुमलों के संग आता है तो एक झुरझुरी-सी उसकी देह में फैल जाती है. उन लड़कों को वह महीन ढंग से समझाने की कोशिश करता है. वह सीधे उन्हें निरुत्साहित भी नहीं करता. क्योंकि वह जानता है कि ऐसे जुमले जिसके दिमाग में एकबार घुसे तो निकलने वाले हैं नहीं.

वह उन सबको बताना चाहता है कि कैसे भूख से तड़पते बच्चों पर लिखी गयी उसकी रिपोर्ट हटा दी जाती है जब उस जगह पर किसी कीमती टॉनिक का विज्ञापन आ जाता है. . .कैसे नंगधड़ंग जी रहे लोगों की दुखद जिंदगी की रोमांचक रिपोर्ट कंपोज होने के बाद भी तोड़ दी जाती है जब किसी महंगे 'शटिंग-शर्टिंग' का कोई कीमती विज्ञापन आ जाता है. अखबार को इन विज्ञापनों से पैसे मिलते हैं, नंग-धड़ंग लोगों या भूख से मरते बच्चों के किस्सों से नहीं.

दफ्तर पहुंचने पर ज्यों ही वह कुर्सी पर बैठा कि चपरासी तंबाकू चुभलाते हुए पहुंचा, "बोलाबा है. . ." उठकर वह संपादक के कक्ष की तरफ बढ़ गया. संपादक ने भीनी हंसी के संग कहा, "भई, यादवजी के यहां जरा चले जाओ. . .पर आज जरा कायदे से. . ." वह चुप रहा. उसने कोई प्रतिवाद नहीं किया. वापस अपने डेस्क पर जाकर वह अपनी डायरी व यादवजी के वक्तव्य दर्ज करने के लिए सादे कागज उठाकर निकालने लगा कि रंगनाथन आता हुआ दिख गया. छूटते ही उसने कहा, "रंगू यार, थोड़ी देर में लौटता हूं. . .आज मेरा एक कार्टून तुम्हें बनाना होगा. टालने की कोशिश की तो मेरी तेरी कुट्टी." रंगनाथन हौले से मुस्कुराकर बढ़ गया. □

● 6, विद्यापति मार्ग, पटना, बिहार.

सम्मान पुरस्कार : तीन

सलीब पर चढ़ा शैशव

शुभदा मिश्र

पति पत्नी का झगड़ा-झंझट प्रायः आम-सी बात है, परंतु क्या इसे सिर्फ यह कहकर टाल दिया जा सकता है कि छोड़ो, यह तो होता ही रहता है! अगर नहीं तो फिर क्या वजह है कि हम इस मामले पर गौर नहीं करते?——भारतीय गृहस्थी के इस अहम सवाल की तरफ उंगली उठाती एक मार्मिक कहानी कि पति-पत्नी की उलझनों के बीच बच्चे प्रायः किन-किन भयावह स्थितियों के शिकार हो जाते हैं . . .

सातवीं 'अ' में तो बस मजा ही आ गया!

मजा तो आता ही क्योंकि पीरियड खाली था. वह भी गणित का. बस, लड़कियों के तो मजे ही मजे हो गये. किस्मत की ही बात है, वर्ना कई बार खाली घंटे में कोई दूसरी बहनजी आकर बैठ जाती हैं. बड़ी बोर होती हैं लड़कियां तब. लेकिन आज, आज तो कोई बहनजी भी आकर नहीं बैठी. सातवीं 'अ' की लड़कियों की खुशी का क्या पूछना. बार-बार खिड़की-दरवाजों से झांक रही हैं. झांक रही हैं और किलक रही है— नहीं आयेंगी, देखना आज कोई भी बहनजी नहीं आयेंगी. आज तो पूरे घंटे अपना राज है. चल न रे 'अंताक्षरी' खेलें. . . और लो हो गयी शुरू सामने बेंचवाली लड़कियां—शुरू करो अंताक्षरी लेकर प्रभु का नाम. . .उधर बीचवाली बेंचों की नीता, सुनीता, रंजीता वगैरह के झुंड में तो रंगीनी झलक उठी है, "हाय रे, कल मैं 'लव स्टोरी' गयी थी. . . क्या मस्त पिक्चर थी और वो वाला गाना तू सुनी. . . 'मैं आयी-आयी-आयी'. . ."

"अरे चल, इससे भी अच्छी तो 'नदिया के पार' है, तूने देखी! सच बता कहानी. हाय रे, बता न कहानी. . .और बीचवाली लड़कियों का रोआं-रोआं डूबा हुआ 'नदिया के पार' की कहानी सुन रहा है तो आखिरी बेंचोंवाली अमरजीत, सुनीता, पुनीता वगैरह क्यों पीछे रहें. वैसे भी वे पीछे रहनेवाली लड़कियां नहीं हैं. पढ़ाई को छोड़कर हर बात में कक्षा में सबसे आगे. जब भी कोई बहनजी नहीं आतीं, ये कक्षा से बाहर भाग लेती हैं. कभी पानी पीने के बहाने तो कभी बाथरूम जाने के बहाने. एक बार जो कक्षा से बाहर निकली तो

पूरे पीरियड के लिए कक्षा से गोल. स्कूल भर में मटरगश्ती करती फिरेंगी. उनको यों मस्ती मारते देखकर कक्षा की अच्छी-भली लड़कियों का जी ललचाने लगता है. फौरन कक्षा मॉनीटर के पास पहुंच जाती हैं—बाहर जाने की छुट्टी मांगने. मॉनीटर बेचारी कितनों को छुट्टी दे! जिसे मना करती है, वही मुंह फुला लेती है, "तू तो बस खास-खास सहेलियों को देती है छुट्टी! मुझे अपनी सहेली नहीं मानती, तभी तो नहीं देती छुट्टी. जा तेरी मेरी कुट्टी!" मगर आज मनजीत और सोनिया निकली ही थी कि फौरन पलटकर चिल्लायीं, "शैला, तेरे पापा!"

पापा! ...'नदिया के पार' की कहानी सुनने में तन-मन से डूबी शैला को मानो हजार वोल्ट का करंट लगा हो. वह फटी-फटी आंखों से अमरजीत का मुंह देखने लगी.

"भगवान कसम तेरे पापा है. . .मैंने अपनी आंख से देखा, तेरी मम्मी भी उनके साथ हैं. . . है न रे सोनिया."

पापा! मम्मी! शैला अभी भी फटी-फटी आंखों से मनजीत को ताक रही थी. चरम उत्सुकता में सातवीं 'अ' की पचासों लड़कियों के चेहरे अब तक ऊपर उठ गये थे. शैला के पापा. . .मम्मी. अब क्या होगा. . .

चरम उत्सुकता का यह सन्नाटा सातवीं 'अ' में ही नहीं खिंच आया था बल्कि वहां से निकलकर बाहर भी फैल रहा था. लोगों के चेहरों पर. . . सारे माहौल में और बरामदे से गुजरती हुई बिमला बहनजी के चेहरे पर भी. बरामदे से गुजरते हुए सातवीं 'अ' के दरवाजे के सामने थमक कर खड़ी हो गयी थीं वे. पके हुए गदबदाये चेहरे पर आक्रामक भाव. उन्हें सामने खड़ी देखकर बुत बनी शैला की आंखों में चेतना जागी. उसने सहमकर सिर झुका लिया.

"क्यों री शैला, तेरे पापा आये हैं. जा नहीं रही है क्या?" बहनजी ने वार साधा.

शैला का कोमल चेहरा गहन यंत्रणा में भारी हो उठा. आंखों की कोरों पर पानी की लकीरें चमक उठी. निरुपाय-सी उसने और भी सिर झुका लिया. मोटी बतखों की तरह फदर-फदर करता तीन-चार बहनजियों का झुंड भी उत्सुकता में बंधा खिंचा चला आ रहा था. . .

"क्या-क्या, शैला फिर अपने पापा से मिलने नहीं जा रही है?"

"कहां जा रही है!"

"नहीं, जा रही है न!"

"देखो न, कैसे सिर गड़ाये खड़ी है."

"खा जायेंगे क्या री तेरे पापा!" जाने गोरे बहनजी के स्वर में ताड़ना थी या हिकारत.

"निकालो. . . निकालो उसे ए लड़कियो . . . निकालो."

जाने यह आदेश किसने दिया है. . . जाने यह किसने मुनादी पीट दी है. . . शैला का कलेजा मुंह को आ गया है. . . वह मुंह उठाकर किसे देखे, किसने आदेश दिया है. . .हर बार कोई न कोई तो देता ही है. . . और अब तो किसी आदेश की भी जरूरत नहीं रही . . .लड़कियां खुद ही हुमकने लगती हैं. . . निकालो. . .'निकालो शैला को निकालो. . .'

"हर बार तमाशा करती है ये लड़की. . . निकालो. . . निकालो खींच के उसे."

और लड़कियां झूम पड़ी हैं शैला पर, "चल न रे चल. . . चल."

भयभीत चिड़ियां की तरह पीछे सरकती दीवार की तरफ दुबकी जा रही है शैला. आंखों में झर-झर आंसू झरने लगे हैं. . .भय से होंठ बुदबुदा रहे हैं, 'नई बहनजी. . . नई बहनजी, नई. . नई. . . नई. . .'

पूरे स्कूल क्या, पूरे शहर में कोई नहीं समझ सकेगा शैला का दुख. और शहर क्या, शैला को तो लगता है पूरी दुनिया में कोई नहीं समझ सकता. उसके दिल पर क्या गुजरती है. क्यों नहीं समझ पाता होगा कोई. ऐसे ही मौके पर उसे दुनिया विचित्र लगती है. विचित्र अजनबी और भयावह. नहीं तो वैसे उसे दुनिया बहुत अच्छी लगती है. दुनिया की सभी चीजें. . . मनोहारी और लुभावनी. ठंडी-ठंडी हवाएं. मंद-मंद हिलते पेड़-पौधे. बरसती हुई बूंदें. चमकती हुई बिजलियां. खिलखिलाती हुई सहेलियां . . . सब . . . सभी तो बड़े प्यारे हैं. लोग भी और स्कूल की बहनजियां भी. जो भी काम वे कहती हैं, शैला खुशी-खुशी कर देती है. स्कूल तो उसे बहुत अच्छा लगता है, बहुत. . . मगर जब उसके पापा आ जाते हैं तो, ओह कैसी भयावह हो उठती है दुनिया. . . भयावह और कुत्सित. कोई भी तो मौका याद नहीं जब पापा का आना उसे भला लगा हो. . .

पिछली बार का घाव तो अभी भी रिस रहा है. पिछली बार तो सीधे कक्षा में ही घुस आये थे पापा. नाटे मुटियाये, गहरे सांवले चौखटे में मोटे-मोटे लटकते होंठ. सूखी-सूखी वहशी-सी आंखें, जिन्हें देखते ही शैला की नन्ही-सी जान सूख जाती है. कक्षा में घुसते ही, लपक कर उसकी बांह पकड़ी थी और अपनी जनानी आवाज में बुरी तरह चिचियाने लगे थे, "देखिए, देखिए बहनजी, ये मेरी बेटी है. मगर मेरे साथ इसका क्या सलूक है. मैंने इसको जन्मदिन का तोहफा भेजा था मगर इसने नहीं लिया. पूछिए इससे क्यों नहीं लिया. सब इसकी नानी और मौसी ने सिखाया है. बाप तोहफा दे तो मत लो. उससे मिलो-जुलो मत. वे अपने पास रखकर जहर भर रहे हैं मेरी बच्ची के मन में. और तू अपनी जिस सिधु मौसी की चहेती बनी है उसकी करतूत भी सुन ले. उससे भी उसके ससुरालवाले खुश नहीं है. लड़-झगड़कर मायके आकर बैठी है."

आगे सुना नहीं गया. शैला भोकार पारकर रो पड़ी. बाप के हाथ से बलात छूटकर कोने में जा छिटकी और सुबक-सुबक कर रोने लगी थी.

यह आदमी उसका बाप है या कसाई. जब तक मां जिंदा थी, यह उनकी जरा-सी खुशी नहीं देख सका. मां मर गयी, अब बेटी के पीछे पड़ा है. उसे जरा किसी बात में खुश देख लेता है तो फौरन पूरी ताकत से प्रहार करता है. सिधु मौसी उसकी सबसे प्यारी मौसी है. कितने दिनों बाद तो आयी है. मुश्किल से हफ्ता भर हुआ है. रोज ही कितनी शान से दिखाती है वह. . . मौसी की लायी लहंगा-चुनी. मौसी की लायी डिस्को ड्रेस. मौसी की लायी मोती माला. मौसी के लाये करनफूल. और आज उन्हीं लड़कियों के सामने उसकी प्यारी मौसी की इंसल्ट! रोते-रोते उसकी आंखें लाल हो गयी.

"ले-ले प्रेजेंट. . ." बाज की तरह झपट्टा मारकर उसने फिर बच्ची की बांह पकड़ी और किचकिचाने लगा, "लेती है कि नहीं प्रेजेंट. . ."

"ले-ले न रे, प्रेजेंट ले ले न शैला." लड़कियां जैसे तरस खाते हुए कह रही थीं.

प्रेजेंट! कितना घिनौना लग रहा था शैला को.

"प्रेजेंट ले-लो शैला!" बहनजी ने गंभीर स्वर में आदेश दिया.

बाप की क्रूर गिरफ्त में रोती हुई शैला ने दयनीय दृष्टि से बहनजी की ओर देखा. मौका पाते ही बाप ने हथेली खोलकर जबरदस्ती पैकेट थमा दिया.

सब इसकी मौसी और नानी की पढ़ाई हुई पट्टी है. . . ! बाप गुस्से से फुफकारता रहा और बहनजी 'हां-हां' करती रहीं. उसके जाते ही सीधे शैला के पास आयीं, "क्यों रे शैला, "तेरी सिधु मौसी अभी तक नहीं गयी सुसराल?" मारे उत्सुकता के उनका पका हुआ सांवला चेहरा खदबदा रहा था.

घिन के मारे शैला का बुरा हाल हो गया.

जब बहनजियां ही ऐसी हैं, तभी न पापा स्कूल में रंग जमाये हुए हैं. वर्ना शुरू में तो शायद उनका भी ध्यान इस तरफ नहीं था. शुरू में तो वे गली-मुहल्ले में ही घुसपैठ करने की कोशिश करते रहे थे. मुहल्ला यानी शैला का मुहल्ला. अब चाहे कोई उसे शैला का ननिहाल कह दे मगर शैला को तो वह अपना घर ही लगता है. शैला और शीनू दोनों को. इस दूर-दूर तक पसरी इतनी भीड़ भरी दुनिया में शैला और शीनू का एकमात्र घर. जहां मां रहती थी. घायल चिड़िया की तरह दुबकी

सम्मान पुरस्कार : तीन

सहानुभूति

कुदरत अली कुरंशी

मशीनें धड़धड़ा रही थीं. ईंट पर ईंट चढ़ायी जा रही थी. तसलों में रेती और सीमेंट इंसानों के सिर पर से दौड़े जा रहे थे. नींव का काम लगभग पूरा हो चुका था.

सूरज अपनी पूरी गर्मी पर था. जमीन भी खूब तपी जा रही थी. सांसें जैसे गर्मी उबल रही थीं. मैं पेड़ के साये में कुर्सी पर बैठा, पसीने से तर काली मेहनती मांस-पेशियों की हरकत देख रहा था. माथे पर आये पसीने को पोंछते हुए मैंने घड़ी की ओर देखा. दो बजे थे. सोचा, घर चलकर थोड़ा आराम कर लूं. मैंने दुबारा माथे पर आये पसीने को पोंछा और हैट संभाला.

मैं गाड़ी तक पहुंचा ही था कि मैंने केशव को अपनी ओर बढ़ते पाया. उसकी काली मजबूत देह पसीने से तरबतर थी. चौड़े कंधे पर मैला अंगोछा पड़ा था. मेरी नजर उसकी मांस-पेशियों के सहज कसाव पर जा टिकी.

"क्या बात है केशव?" पसीने की तेज गंध मेरे नथुनों से टकरायी.

"साब . . !" उसकी आवाज में मैंने कुछ कंपन महसूस किया. . .घनी भवों के नीचे छिपी आंखों के लाल डोरे मुझसे छिपे न रहे.

"हां, हां. . .कहो."

"साब!" वह सिसक पड़ा, "साब, कल से हमारा मुनिया बीमार है साब. . .बहुत तेज बुखार है. . .साब, हमें दवाई लाने जाने दो साब." वह मेरे पैरों में गिर पड़ा.

उसने अपनी मुट्ठी मेरे आगे फैला दी. हथेली पर डाक्टर का प्रेस्क्रिप्शन और कुछ मैले-कुचैले नोट थे. शायद यही उस गरीब की जिंदगी भर की कमाई थी.

"अच्छा जाओ." मैंने उसे उठाते हुए कहा.

"ए, कहां जा रहे हो?" सहसा चाचाजी की कड़कती आवाज सुनकर केशव कांपने लगा.

"चाचाजी. . ." मैं कुछ कह भी नहीं पाया था कि. . .

"मैं जानता हूं इन लोगों के चोंचले! कभी लड़का बीमार होगा तो कभी लड़की, कभी मां बीमार होगी तो कभी बहन. मदन, तुम बाजू की साइट पर जाओ जहां नहरवाला काम चल रहा है."

"जी."

"हुंह, कामचोर कहीं के! जाओ, अपना काम करो." चाचाजी ने केशव को डांटते हुए कहा.

मैं केशव की नजर से बचते हुए तेजी से सिर झुकाये गाड़ी की ओर चल पड़ा. □

● टाइप 3, 16/1, जवाहर नगर, जिला : भंडारा (महाराष्ट्र) पिन-441906

जहां मां को सहारा देनेवाले नानाजी थे. शैला और शीनू को खूब-खूब प्यार करनेवाले नानाजी, नानीजी और सिंधु मौसी. बीच-बीच में आकर उन पर अपना प्यार लुटानेवाली सिधु मौसी जहां आंगन में लगे गेंदे और मोंगरे के पौधे शैला के लिए ढेर-ढेर फूल खिलाते हैं! . . . जहां की गैया शैला के आवाज लगाते ही रंभाती हुई भागी चली आती है और बाछा तो बस, शैला की गोद में ही दुबका रहता है. मगर बाछा को गोद में लेने से मिट्ठू कितना बिगड़ता है, एकदम टांय-टांय करने लगता है. . . 'शैला दीदी मेरी है. . . मेरी है. . . बाछा तुम शीनू पास जाओ. शीनू पास जाओ!'. . . बिल्कुल राजकुमारी है शैला तो इस छोटी-सी प्यार भरी बगिया की. मगर इस प्यार भरी बगिया को तहस-नहस करने एक दैत्य आ जाता है रह-रहकर . . . हां. दैत्य ही तो हैं यह पापा!

मां मर गयी तो लगा था, शायद अब इस पापा नामक दैत्य से पिंड छूटा. मगर नहीं, महीना भर भी नहीं हुआ था मां को मरे और उसने पापा को फिर देख लिया था. अपने ही मुहल्ले में. पापा रामारमण अंकल के दरवाजे पर खड़े थे. . .हाथ जोड़े, गिड़गिड़ाते-से, वह और शीनू मोड़ की दुकान से लौट रहे थे. पेंसिल लेकर. पापा को देखते ही लपक कर एक कोने में दुबक गये. दुबके-दुबके ही दोनों ने सब देख लिया था. पापा के साथ एक नयी नवेली दुल्हन थी. भारी शरीर. पका चेहरा. नयी साड़ी. मांग में दपदप करता मोटा सिंदूर. हाथों में ढेर सारी खनखनाती लाल-लाल चूड़ियां. पावों में आलता जिस पर झनर-झनर करती पायल. शीनू ने तो देखते ही पहचान लिया था. यह तो हमारी मांवाली पायल है. मां ने एक बार तीज में पहनी थी. सारे मुहल्ले में खलबली मच गयी थी पापा की नयी दुल्हन को देखने के लिए. . . और पापा अपनी दुल्हन को लेकर मुहल्ले में एक-एक के घर गये भी थे. उनकी दुल्हन हाथ जोड़-जोड़कर कहती थी, "देखिए न बहन, मेरे बच्चों को रख लिया है. मेरे पति अपने बच्चों के लिए कितना तरस रहे हैं. उनका दुख देखा नहीं जाता. कितने नीच लोग हैं. इतने अच्छे इंसान को बदनाम करते हैं कि इनकी बेटी पर अत्याचार करता था. अरे, मैं भी तो इनकी पत्नी हूं. . . मुझ पर तो कोई नहीं करता अत्याचार. . . और क्या कहूं. मुझे तो पूरा ससुराल सिर आंखों पर रखता है."

लोगों की उत्सुकता जगाकर पापा हर शनिवार की शाम आ धमकते थे. घंटे-डेढ़ घंटे का ही रास्ता था पापा के शहर का यहां से. ऑफिस से छूटते ही अपनी दुल्हन को लेकर आ जाते थे. शनिवार की शाम और इतवार, दोनों दिन शैला और शीनू डरकर घर में दुबके रहते. पापा का बस चलता तो मुहल्लेवालों का जुलूस लेकर घर में घुस आते. मगर मुहल्लेवालों ने साथ नहीं दिया. कुमुदनी की अम्मा ने तो नयी मम्मी को सुना भी दिया था, "हां भई, हमारे मुहल्ले की बेटी खराब थी. तुम्हीं बहुत अच्छी हो. तभी तुम्हें ससुरालवाले सिर पर रखे हैं. और क्यों न रखें सिर पर, जैसा नचा रहे हैं वैसा बंदरिया की तरह नाच रही हो. तुम्हारा ही कलेजा है बाई कि जिसकी घरवाली की चिता की राख भी नहीं सूखी उसी की दुल्हन बनकर झमकती चली आयी हो."

वैसे शैला सचमुच नहीं समझ पाती कि नयी मम्मी को पापा कैसे अच्छा रखते हैं. क्यों नहीं इसके केश पकड़कर सिर दीवार में दे मारते जैसे मां के साथ करते थे! . . . कैसे गालियां बकते थे मां को ऊफ! . . . कितनी गंदी! नयी मम्मी को क्या सचमुच मालूम नहीं कि उसकी मां के साथ क्या-क्या गुजरी. शैला को तो वह सब अभी भी याद आता रहता है. खासकर जिस दिन पापा को देख लेती है उस दिन तो सपने में भी. एकदम डर जाती है नींद में शैला. 'हू-हू' करके रोने लगती है. वह तो बगल में नानी मां सोती हैं, इसी से उतना डर नहीं लगता. मगर शीनू अभी छोटा है न. हर वक्त नानी मां से चिपटा रहता है. हर वक्त मां की याद करके रोता रहता है व पापा के आने से ये दुखदायी यादें और भी कष्ट देने लगती हैं. हमारी प्यारी मां चली गयी. . . दिन-रात की लड़ाई से. जब से जन्म हुआ, मां-पापा को लड़ते ही देखा. कितने क्रूर कितने पैशाचिक हो जाते थे पापा. एक बार जब पापा ने मां को निकाल

दिया था और उन दोनों को अपने पास रख लिया था तो दोनों दिन-रात रोते रहते थे. शीनू तो बहुत ही छोटा था. मां-मां करता कलपता रहता था. मां शब्द सुनते ही पापा क्रोध में पागल हो जाते. चट्-चट् तमाचे लगाने लगते, "खबरदार! जो मां का नाम लिया. गला दबा दूंगा साले!" शीनू रोते-रोते बेहाल हो जाता. फिर शीनू को तबीयत जब ज्यादा खराब हुई तो किसी ने मां को खबर दी. मां आयी थी कि उस रात बदहवास-सी. उनके आफिस में ही किसी ने खबर दी थी, सो आफिस से ही सीधी गाड़ी से चली आयी थीं. उसी दरवाजे में जहां से कुछ दिन पहले ही उन्हें धक्के देकर बाहर निकाल दिया गया था. इतनी ठंड में एक सूती साड़ी लपेटे अकेली खड़ी दरवाजा खटखटाती रही थी. आवाजें देती रही थीं, "शीनू. . . शीनू बेटा. . . शीनू. . .!" ठंडी रात के अंधेरे में मां की पतली दुख से कांपती आवाज दूर-दूर तक सुनायी दे रही थी. लोग भिखारिन की आवाज सुनकर भी दरवाजा खोल देते हैं. मगर मां की आवाज सुनकर किसी ने भी दरवाजा नहीं खोला. पापा तो टस से मस नहीं हुए. शीनू मां-मां करता पापा की बांहों की जकड़ से छूटने के लिए मचल-मचलकर रोने लगा तो उसे पर चटाचट चांटे बरसाने लगे थे. शैला हाथ छुड़ाकर भागी तो उस पर लात पर लात चलाने लगे थे, "हरामजादी, तेरे लिए मां ही सब कुछ है. नमकहराम तुम लोग बाप के नहीं!"

मां उस सारी रात दरवाजे पर ही आवाजें देती बैठी रही थीं. ऐसी कितनी ही दुर्गतियों के बाद जाती रही थी मां.

मां की मौत के बाद पापा नानाजी के पीछे पड़ गये थे. बार-बार आकर नानाजी से लड़ते. खूब गालियां देते. एक बार तो उन्हें पटक कर उनकी हड्डी छाती पर बैठ गये थे, "तेरा खून पी जाऊंगा बुड्ढे, मेरी बीबी को अपने घर में रखा. . . अब मेरे बच्चों को रख लिया है. . . कमीने!"

शीनू तो उस दिन सारी रात रोता रहा था. . . 'नानाजी, हमारे कारण आपको मारते हैं पापा. मां को मारते थे. हम पैदा ही क्यों हुए.'

अपने जन्मदिन के दिन तो शीनू सारा दिन घर के कोने में दुबका आंसू बहाता रहा था. . . हम क्यों पैदा हुए. हमारे कारण हमारी मां की दुर्गति हुई हमारे कारण नानाजी मार खाते हैं. पापा सबको बदनाम करते हैं.

"ऐसा नहीं बोलते बच्चा, ऐसा नहीं बोलते." नानाजी शीनू को अपनी गोद में ले लेते और अपने लकड़ी जैसे पतले-पतले हाथों से उसके आंसू पोंछने लगते, "तुम तो अपनी मां की यादगार हो हमारे लिए."

"नानाजी, हमारी मां नहीं और हमारा बाप ऐसा. . ." शीनू नानाजी की गोद में सुबकने लगता.

"मां-बाप से क्या होता है बच्चा, वे कोई भी हों. देखो, जो भी बच्चा देश में पैदा होता है न, उसके मां-बाप कोई भी हों वह तो देश का बच्चा होता है. भारत मां का बच्चा होता है. तुम भी भारत मां के बच्चे हो. इतनी बड़ी भारत मां के. इतनी महान भारत माता के. . . तुम्हें तो अपना जन्मदिन खूब अच्छे से मनाना चाहिए बच्चा!"

नानाजी अपने दुख, अपमान सबसे उबर चुके थे. सिर्फ बच्चों की सोचते. पुलिस, कचहरी, वकील, दौड़ते रहते. उनकी आंखें एकदम बेकार हो चुकी थीं. सड़कों में जगह-जगह गड्ढे होते. उन्हें सूझता नहीं. गिर पड़ते. शीनू जहां तक हो सके. साये की तरह उनके पीछे लगा रहता. रो-रोकर राहगीरों से बताता, "वो मेरे नानाजी गिर गये हैं. निकाल दीजिए न मामाजी."

"नानाजी आपको ज्यादा चोट तो नहीं आयी." घर पहुंचकर शीनू उनके हाथ-पांव टटोलने लगता, "आप लेट जाइए नानाजी, मैं आपके हाथ-पांव दबा दूं."

नानाजी एकदम विह्वल हो उठते, "नहीं बच्चा, मेरी तो देह हड्डी-हड्डी. तेरा हाथ कितना छोटा, कितना कोमल. तू मेरी हड्डियां छुएगा तो तेरे कोमल-कोमल हाथों में गड़ जायेंगी बच्चा!"

नानाजी एकदम बूढ़े थे. भौहें तक सफेद. नानी बताती कि नहीं बच्चों, तुम्हारे नानाजी पहले बहुत गोरे थे. बिंदु मौसी से भी ज्यादा गोरे. शीनू को अचंभा लगता. नानाजी क्यों इतने काले हो गये. काले-काले कंकाल-से. हर वक्त छाती पकड़े खांसते रहते. बदन में बुखार रहता. शीनू ध्यान से उन्हें देखता रहता. डाक्टर उन्हें कौन-कौन सी दवाई कब-कब खाने के लिए कह रहे हैं. वह उन्हें हाथ से दवा खिलाता. नानाजी को न कुछ याद रहता, न कुछ दिखायी देता. कहीं उल्टी-सीधी दवाई न खा लें. नानीजी का भी यही हाल है. उन्हें भी न ठीक से दिखायी देता, न याद रहता. और बिंदु मौसी तो सारा दिन बस अपने आफिस में. शीनू ही सब खयाल रखता. एक दिन अकेला देखकर उनसे अपने भीतर का डर भी कह दिया था, "नानाजी, आप तो इतने बूढ़े हैं. इतने बीमार रहते हैं. आप मर जायेंगे तो पापा हमको पकड़कर ले जायेंगे क्या. . . ?"

नानाजी ने अपनी सफेद आंखों से उसकी तरफ देखा. बहुत ही ममता से उसके सिर पर हाथ फेरा, फिर बोले, "नहीं बच्चा, अगर तुम नहीं जाना चाहते तो तुमको कोई ताकत नहीं ले जा सकती."

तब से शीनू के मन में यह बात घर कर गयी.

नानाजी की मृत्यु के बाद बिंदु मौसी बोली थी, "देखो बच्चो, आखिर वह तुम्हारा पिता है. तुम लोग एक बार जाकर तो देखो."

"नहीं!" शीनू पागल-सा चीखने लगा था. पूरे घर की चीजें उठा-उठाकर फेंकने लगा था, "कभी नहीं जाऊंगा मैं यहां से. कभी नहीं. यह मेरे नानाजी का घर है. मेरी मां का घर है. नानाजी बोले थे, अगर तुम नहीं जाना चाहते तो तुमको कोई ताकत नहीं ले जा सकती."

बिंदु मौसी फिर एकदम चुप हो गयी थीं.

मां और नानाजी के पीछे पड़े रहनेवाला पापा अब मौसी के पीछे पड़ गये थे. अकेली लड़की समझकर शेर हो गये थे. मां के आफिस के कर्मचारियों को खिला-पिलाकर उन्होंने मां के आफिस का रुपया निकलवा लिया था. मां के नाम की जमीन बेच डाली थी. सबसे कहते थे कि मेरी बीवी के गहने तो उसके मायके में ही हैं जो बिंदु दाबे हुए है. बिंदु मौसी की तो बदनामी ही बदनामी!

लेकिन पापा की नयी पत्नी, पापा से ज्यादा चतुर थी. पर्दे पर आते ही उसने बच्चों की सबसे कमजोर नस को पकड़ा था. हफ्ते में दो-दो, तीन-तीन पत्र स्कूल के पते से बच्चों के नाम आने लगे थे. फूल और पत्तियों से सजाये हुए रंग-बिरंगे पत्र. कविताओं से भरे हुए—ठुमक-ठुमक चले आओ मेरी शैला, मेरे शीनू, मैया तुम्हें पुकारती. तुम मेरे कृष्ण. मैं तुम्हारी यशोदा मैया. कैसे कृष्ण हो, अपनी यशोदा मां की याद नहीं आती तुम्हें. मैं तो रोज तुम्हें सपने में देखती हूं. मेरे लाल! मां की आंखें तरस रही हैं अपने लाल को देखने के लिए. मुझ पर दया करो. चले आओ. तुम्हारी नानी लालची है. तुम्हारी मौसी भी. वे तुम्हें झूठी बातें बताकर बहका रहे हैं. तुम्हारी मां का पैसा हथियाने के लिए अपने पास रखे हुए हैं बच्चों तुम्हें. तुम उन्हें समझो. उनकी चाल को समझो. मां-बाप से बढ़कर बच्चों के लिए दुनिया में कोई नहीं होता.

पापा को सचमुच अब अपने लायक बीवी मिल गयी थी. पापा की योजनाओं में बढ़-चढ़कर भाग लेनेवाली. पापा उसे जहां भेजते-नौकरी-चाकरी, प्रमोशन, वकील, कचहरी, अदालत, हर जगह वह आगे ही आगे भटकती. अब पापा सभ्य आदमियों की तरह अपनी सभ्य सुशिक्षित पत्नी के साथ सिर उठाकर अपने पुराने ससुराली कस्बे में घूमते. उस मुहल्ले में तो घुसपैठ नहीं कर पाये थे मगर शहर में फिर भी ऐसी बहुत औरतें थीं जिनकी इस तरह की बातों में बड़ी रुचि थी. पापा तो इस तरह की औरतों को सूंघते ही रहते थे. फौरन उसके घर पहुंच जाते. हाथ जोड़े, विनम्रता की मूर्ति बने. उनकी पत्नी फौरन अपनी दिवंगत सौत के रिश्ते से प्रणामपाती करने लगती. फिर वे शुरू हो जाती कि बच्चों के लिए तरस रहे हैं. इन्हें रात-रातभर नींद नहीं आती. आप ही इनका दर्द समझ सकती हैं. आप ही का आसरा है कुछ कीजिए. . .

पापा की दोस्ती मर्दों के साथ होती ही नहीं थी. मर्द उन्हें कभी मुंह लगाते ही नहीं थे. या लगाते थे तो तफरीह के लिए. सीधी-साफ बात करनेवाली औरतें भी पापा को नहीं सुहाती थीं. उनकी दोस्ती हमेशा दंदी-फंदी, चटपटी मसालेदार बातों की फिराक में रहनेवाली औरतों से होती थी. जाने क्या बात थी कि समाज में चारों ओर ऐसी ही औरतें नजर आने लगी थीं. और कन्या पाठशाला तो इसी तरह की औरतों से भरी पड़ी थी. शीनू के स्कूल अध्यापकों ने पापा को कभी मुंह नहीं लगाया मगर कन्या पाठशाला की बहनजियां तो पापा को देखते ही पढ़ाना भूल जातीं. सारी बहनजियां, सारी लड़कियां पापा के इर्द-गिर्द इस कदर भीड़ लगा देतीं कि मानो कोई बाजीगर तमाशा दिखाने आया हो.

पापा जब पहली बार आये थे इस स्कूल में, मां के मरने के बाद पहली बार, तो ऐसे नहीं लगे थे. उस दिन तो बहुत ही उदास-उदास लगे थे. शैला का मन मान से भर उठा था. आंखों में पानी उतर आया था. गली-गली मेरी मां की बेइज्जती की. अब मां मर गयी. अब इनका कलेजा ठंडा हो गया. मान से उसने पापा की तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखा. मेरी मां को मार डाला . . . अब बेटी का प्यार लेने आये हैं.

पापा भर्राये स्वर में बड़ी बहनजी से बातें कर रहे थे, "अपना दुख क्या कहूं बहनजी! मेरे ससुरालवालों ने मेरी पत्नी को भड़का-भड़काकर मेरी गृहस्थी बरबाद कर दी. आप उन्हें नहीं जानतीं. वे लोग पूरे पाखंडी हैं. ऊपर से एकदम सीधे दिखेंगे, एकदम गांधीजी के अवतार. भीतर से एकदम कमीने हैं. मेरी तो जिंदगी बरबाद हो गयी.

शैला का मुंह सूख गया . . . अरे, ये तो जरा भी नहीं बदले.

"मेरी पत्नी को मेरा नहीं होने दिया. मेरे बच्चों को मेरा नहीं होने दिया. मैं बड़ा अभागा हूं बहनजी!" और पापा सचमुच रोने लगे थे.

कैथराइन बहनजी बुरी तरह पिघल गयीं, "अरे आप यह क्या कह रहे हैं. उनके बहकाने से क्या होता है. आपके बच्चे आपके हैं. . आओ शैला. . .चलो, इधर आओ . . . मिलो अपने पापा से."

पापा की उदासी देखकर पलभर पहले जो दयार्द्र भाव मन में उभरा था, वह उनकी अगली ही हरकत से सूखकर ठस हो गया. पापा अब पहले से भी ज्यादा खतरनाक नजर आ रहे थे. वह सहमकर पीछे हट गयी.

कैथराइन बहनजी मुख्य अध्यापिका थीं. उनका रुख देखते ही कक्षा अध्यापिका विमला बहनजी एक कदम और आगे बढ़ गयीं. सहमी खड़ी शैला की बांह पकड़कर पापा के पास घसीट ले चलीं, "चलो चलो, अपने पापा के पास. नाना-नानी के बहकावे पर मत जाओ. तुम्हारे पापा तुम्हारे अपने हैं. बाकी रिश्ते बेकार हैं. . समझी कि नहीं?"

बहनजी लोगों के इस रुख से पापा को बल मिला. जल्दी ही फिर आये.

मगर इस बार अकेले नहीं. अपनी नयी दुल्हन के साथ. विमला बहनजी को बड़ा-सा मिठाई का पैकेट पकड़ा रहे थे पापा, "बहनजियों के लिए है. क्या करें बहनजी, मजबूरी थी. बच्चों की देखभाल के लिए शादी करनी पड़ी. किसी तरह अब आप लोग कोशिश करके हमारे बच्चे हमें दिला दीजिए." विमला बहनजी हीं-हीं करती उनके और उनकी पत्नी के लिए कुर्सियां बढ़ा रही थीं मगर उनकी पत्नी ने कुर्सी पर बैठने के बजाय लपककर शैला को ही गोद में उठा लिया था, "देखो, मैंने तुम्हें पहचान लिया. . पहचान लिया न . तुम मेरी प्यारी बेटी हो. तुम्हें तो ढूंढने मैं तुम्हारे घर तरफ भी गयी थी. मगर तुम तो बेटी अपने दुश्मनों के पास कैद हो. तुम्हें मालूम नहीं कि उन लालची लोगों ने तुम्हारी मां के साथ क्या-क्या किया है. तुम्हारी मां ने मुझे सब बताया. उन्होंने ही तो मुझे स्वर्ग से भेजा है तुम्हारे पास. तुम्हें अपने घर लौटा ले जाने के लिए तुम अपने घर चलोगी . . . अपने प्यारे पापा के घर . . . तब तुम्हें सब बताऊंगी."

उधर पापा कक्षा की सब लड़कियों को मिठाई बांट रहे थे, "देखो

श्रीमती शुभदा मिश्र
जन्म : 1 जुलाई, 1946 (डोंगर गढ़)
शिक्षा : एम. ए. (अंग्रेजी)
—'लिखने का कोई विशेष शौक नहीं है. मगर कुछ बातें ऐसी चुभती हैं कि लिखना ही पड़ता है.'
संप्रति : गृहस्थी और स्वतंत्र लेखन.
—अनेक रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित.

लड़कियों, कोई लड़की अपने मम्मी-पापा को छोड़कर दूसरे घर रहती है भला!"

सारी लड़कियां एक स्वर से बोलीं, "जी नहीं."

"तब फिर समझाओ. . .समझाओ इसे."

लड़कियां मिठाई खाती हुई शैला को धकेल रही हैं, "जा न रे, जा न अपने पापा के पास. कितने अच्छे तो हैं तेरे पापा. कितनी अच्छी तो है तेरी मम्मी. कितना तो प्यार कर रही है तुझे."

उत्सुकता के मारे आसपास की कक्षाओं की लड़कियां भी आकर झांकने लगी थीं. मम्मी लपक-लपक कर उन लड़कियों को भी मिठाई बांटने लगीं. उनके सिरों पर हाथ फेरा. गाल सहलाये. . . 'हाय कितनी प्यारी बच्चियां हैं!'. . .'शैला की मम्मी कितनी अच्छी' की आवाजें उभरीं, अनूठे दृश्य के लालच में दूसरी कक्षाओं की बहनजियां भी खिंची चली आयीं. एक-दो-तीन-चार. . .फिर आठ-दस. . .फिर झुंड की झुंड, 'शैला के मम्मी पापा हैं. अच्छा अच्छा. ले जाना चाहते हैं. अच्छा-अच्छा हमें तो समझ में नहीं आता, जब मां-बाप ले जाना चाहते हैं तो नाना-नानी कौन होते हैं बच्चों को रोकनेवाले!'

"अरे सब पैसे का खेल है."

"एक बार इसकी बुड्ढी नानी दिखी थी. . . खुद पति को डंडे से मारनेवाली." खोबरगड़े बहनजी आज पापा की बड़ी हमदर्द बन रही थीं, 'मैंने तो सुना ही दिया. . . बच्चे तो आपने हथिया ही दिये, अब पैसा भी आपको मिल ही जायेगा. मिठाई खिलाइए. . .बुड्ढी का चेहरा फक्क पड़ गया था. अब नहीं निकलती बुड्ढी घर से!"

"सब पैसे की ही माया है. नहीं तो इस उम्र में बुढ़िया बच्चे पालेगी. जवान मां-बाप तरस रहे हैं और बुढ़ापे में ये बच्चोंवाली बनी बैठी है."

बुढ़ापे में बच्चोंवाली बात पर सारी बहनजियों के चेहरे खिल गये.

और फिर बस, पापा शुरू हो गये. अपने ससुराल की बुराई करने का पापा को नशा था. बुराई करने में ऐसी दूर-दूर की कौड़ियां ढूंढकर लाते कि समां बंध जाता. पापा के कलेजे को इससे शायद ठंडक पहुंचती थी मगर पता नहीं कितनी जलन भरी हुई थी कि सालों-साल यही करते हुए भी उन्हें शांति नहीं मिली थी. बहनजियों के सामने इस कदर रवानी से बोलते थे पापा कि बहनजियों का पूरा शरीर कान बनकर दम साध लेता. उनका संभाषण खत्म होते ही बहनजियां उस पर टूट पड़तीं, "आती क्यों नहीं है रे अपने मम्मी-पापा के पास? बोल, बोल तेरे पेट में क्या है?"

"अरे, बोलेगी क्या, इसके पेट में तो जहर है. बचपन से भरा गया है."

"अरे, इसकी मां भी ऐसी थी. ढीठ. जो बात सही मान ली, फिर उससे टस से मस नहीं हुई. इतने अच्छे आदमी के पास नहीं रह सकी. आखिर दूसरी औरत ने रहकर बता दिया. अरे औरत को चार बात

सहनी ही पड़ती है. हम लोग कितना सहते हैं. मगर इनके घर की लड़कियां हैं ही ढीठ. इसकी वह बिंदु मौसी नहीं है, बित्ते भर की. कल की छोकरी. जबरदस्ती दूसरों के बच्चे घेरे बैठी है. इन्हीं के चलते शादी भी नहीं कर रही है. हद है. . . बाप से बढ़कर हो गयी."

"अरे, यह भी अपनी मां और मौसी की तरह ढीठ है. और फ्राक कैसा पहने है. क्यों ऐसा ही फ्राक पहनाती है तेरी मौसी. खुद तो एक से एक बढ़िया साड़ी पहनती है."

"मई, हम लोगों में तो उस जैसी लड़की स्कूल में नहीं है. इतने मर्दों के बीच काम करती है."

हे-हे-हे. . . हे. . . हे! हंसी का गंदा फव्वारा फूटकर पड़ा है. सब उसमें नहा रही हैं. कुत्सित आनंद के दलदल में सराबोर सब कैसी डरावनी दिख रही हैं. पूरा माहौल ही डरावना हो उठा है. जीवित निगलने को आतुर!

भय से आंखें मींच लेती है शैला—हे दुर्गा मां! बचा लो. . . बचा लो मुझे!

बार-बार ही इस तरह सूली पर चढ़ाई जाती है शैला!

और आज एक बार फिर. . .

मनजीत और सोनिया. खबर क्या लायी आज कि फिर पूरे स्कूल का वातावरण डरावना हो उठा है शैला के लिए. आज फिर सारी लड़कियां, बहनजियां अपनी-अपनी कक्षा की सीमाएं तोड़ बाहर निकलकर बरामदे में खड़ी हैं. आज फिर सैकड़ों जोड़ी आंखें कक्षा सातवीं की ओर लगी हैं जहां से शैला को बाहर निकाला जा रहा है. दोनों तरफ से उसकी बाहें पकड़े अतिरिक्त उत्साह में डूबी लड़कियां उसे बाहर घसीट रही हैं. घिसटी हुई वह धीरे-धीरे रो रही है. कलप रही है. . . "नई जाऊंगी मैं. . . नई जाऊंगी बहनजी. . . नई जाऊंगी बहनजी!"

तभी उसकी सहेली सपना भागती हुई आती है, "शैला, तेरी दादी भी आयी है, दादी. . .मैंने देखा."

दादी. . .एकबारगी तो जैसे सनाका खा गयी है शैला—दादी. . . शैशव के आगमन के साथ ही मन में समा गयी है दादी की वह आतंकमयी छवि!. . . "हरामजादी!. . . कौन चीज का इतना घमंड है तुझे. . . निकाल दे रे बाबू, इसका घमंड. . . लगा जूते!. . ."

". . . दादी आयी है शैला, तेरी दादी. . . तेरी मम्मी भी, तेरी दादी भी. तेरी दादी तेरे लिए प्रेजेंट लायी है. . . बड़ा-सा प्रेजेंट!"

आतंक से जड़ है शैला !

"चल न रे चल. . . चल न अपनी दादी के पास. . ."

"ले जाओ इसे लड़कियों, ले जाओ खींचकर." बहनजियों का हिकारत भरा आदेश.

"नहीं!. . . सहसा शैला का रोआं-रोआं विद्रोह कर उठा. वह पूरी ताकत से चीख उठी, "नहीं! !"

और एकबारगी जैसा सारा माहौल थम गया. उसे घसीटकर ले जाती; लड़कियां!. . . हिंस्र आंनद में लबालब होती बहनजियां!. . . . सागर के ज्वार की तरह चरम उत्सुकता में उमड़ती लड़कियों की भीड़, चपरासी, बाबू, दीवारें, खिड़कियां, हवाएं, कुत्सित आनंद में मचलता एक पूरा का पूरा माहौल!

नहीं!. . .शैला का वह हृदय विदारक चीत्कार एक पूरे के पूरे स्तब्ध माहौल के कण-कण को कंपित कर रहा था आज.

नहीं!. . . इतना विशाल हो गया था आज शैला का यह इंकार कि वह पूरा का पूरा माहौल कितना छोटा, कितना बौना, कितना पराजित लग रहा था. निश्चय ही यह एक बालिका की चीख नहीं, यह तो बार-बार सलीब पर चढ़ाये जानेवाले शैशव का सीधा प्रहार था, एक पूरे के पूरे षड्यंत्रकारी माहौल पर! □

● एम 7/9, रोड नं. 12, राजेंद्र नगर, पटना (बिहार)

सम्मान पुरस्कार : चार

खच्चर

केशव

आपने भी सुना होगा कि जहांगीर के शासनकाल में जब एक बैल ने न्याय का घंटा जा बजाया था तो उसे पूरा-पूरा न्याय मिला था और उसके मालिक को सजा—मगर आज जबकि हमारे देश में विश्व की सबसे सक्षम लोकतांत्रिक व्यवस्था है, जब एक खच्चर का मालिक न्याय की तलाश में न्यायालय का दरवाजा खटखटाता है तब क्या बीतती है उस पर. . . . ? अंधे कानून के आंखोंवाले तावेदारों की आंखों पर बंधी छल-छद्म की पट्टी को युवा रचनाकार केशव कितना खोल पाये हैं ?

लच्छू आज बहुत खुश था.

हो भी क्यों न? आज यह दूसरा 'फेरा' था उसका. महीनों बाद यह दिन देखना नसीब हुआ था. तिस पर गांव के दुकानदारों ने उसका भाड़ा बढ़ा देना भी मान लिया था.

महंगाई तो बस 'लालों' पर ही टूटती है. लच्छू जैसे रोज कुआं खोदकर पानी पीनेवालों पर क्यों व्यापेगी? लच्छू को इतनी समझ तो आ ही गयी है. कस्बे का लाला चीजों के दाम बढ़ाता है तो गांव का लाला उससे चार पैर पहले ही. हवा भी तो लालों के गल्ले का मिजाज पछाणती है न. उनके मुनाफे के 'चिफले' पत्थर पर भला महंगाई पैर टिकाने का हौसला भर सकती है.

लच्छू तो मिन्नत-खुशामद ही कर सकता था. सो भी लालो का मुह देखकर. उसने की भी. ज्यादा बोले तो लालों का क्या? मुंह भरकर कह देंगे, "सौदा-सुल्फ ढोनेवालों की कमी है? मंजूर हो ले आ, न हो तो तेरा रास्ता उधर, हमारा इधर." और उधर के रास्ते पर लच्छू को अपना टब्बर खड़ा दिखाई देता है. बिना छत के झोंपड़े की तरह.

लालों ने तीन रुपये फेरा बढ़ाने को कहा था. और आज उसे छः रुपये ज्यादा मिलने वाले थे.

लच्छू मन-ही-मन हिसाब जोड़ रहा था. एक रुपये की जलेबी. . . आज वह जलेबी जरूर ले जायेगा.

वह जब भी घर लौटता है बच्चे उसके आसपास मंडराने लगते है. कहते तो कुछ नही, पर उनकी पनियाई आंखों में जमीन पर बिछी हुई सूखी घास की तरह एक निरीह लालसा अचानक हवा के किसी थपेड़े से खड़ा होने की जिद करने लगती है. लच्छू के मन को 'कुहालू' (हल का फाल) की तरह चीरती चली जाती है यह लालसा. चुपचाप मुह फेर सरक जाता है किसी कोने में.

पिछले बरस 'धार' के मेले में एक रुपये की जलेबी ली थी उसने. तब से आज तक दस पैसे की मिठाई नही ले जा पाया था बच्चों के लिए. हां, लाड़ी (पत्नी) के लिए एक मोटा-सोटा चादरू भी ले जाना होगा. चादरू के नाम पर लीरड़ा ही रह गया है उसकी देह पर. ऊपर से स्याल ने भी मार शुरू कर दी है. ठंड के नाम पर उसे ताप-सा चढ़ आया. और साथ ही ध्यान हो आया अपनी एकमात्र 'खिंद' (गुदड़ी) का. जिसमें चारों जीव गुड़ी-मुड़ी होकर कहर की रातें काटते है. देहों में गर्मी न होती तो ऐसी खिंद कब की कफन बन गयी होती उन चारों के लिए.

अपनी देह पर पड़नेवाली ठंड की सलवटों को उतारने के लिए उसने खुद को गीले 'परने' की तरफ फटकारा. और अपने कुर्ते कमीज की ओर देखा. 'अभी चल ही रहा है. दो-चार जगह से फट गया है तो लाडी 'टल्ली' लगा देगी उसमें. पर सूई भी तो नहीं है घर में.' आज वह सूई भी जरूर ले जायेगा.

सांझ ढल आयी थी. पर अंधेरा अभी पूरी तरह बगीचे में नहीं उतरा था. आगे-आगे खच्चर चल रही थी. धीमी-सुस्त चाल से. पीठ पर बोझ लादे. पीछे चल रहा था लच्छू, बेखबर-सा, अपनी ही धुन में. कोई पहाड़ी टप्पा गुनगुनाता. न खच्चर को मालिक की फिक्र थी, न लच्छू को उसकी.

धांय!

अचानक गोली की आवाज सांझ के सीने में उल्का की तरह एक लकीर-सी खींचती चली गयी. दिन की हाड़-तोड़ मेहनत का सुख अपने पंखों में समेटे पत्तों के पीछे दुबके पंछी बदहवास-से इधर-उधर उड़ने लगे.

गीत के बोल लच्छू के हलक में ही घूमने लगे. लोहे की चरखड़ी की तरह. वह अपनी जगह पर गड़ा-सा विस्फारित नेत्रों से छटपटाते खच्चर को देखता रहा.

खच्चर आखिरी बार छटपटाकर शांत हो गयी.

लच्छू यंत्रचालित-सा जमीन पर बैठ गया और खच्चर के ठंडे होते जिस्म पर हाथ फिराने लगा. अचानक उसके हाथ ने कुछ गर्म-चिपचिपा-सा महसूस किया. हाथ आंखों के सामने आया

"खून! खून!" वह पागलों की तरह चीखा.

"क्यों बे लच्छू के बच्चे, चीख क्यों रहा है?" पीछे से मेजर भवानी सिंह कंधे पर बंदूक लटकाये कदमताल करता प्रकट हुआ.

"साब. . .मेरी खच्चर. . ." भर्राये गले से मुश्किल से निकला.

"खच्चर. . .हुंह. . ." मेजर ने कंधे बिचकाये. "हरामी की औलाद, तेरे को कितनी बार समझाया कि खच्चर को मेरे बगीचे से मत ले जाया कर. अपने बाप का माल समझ रखा है."

अब लच्छू को भान हुआ, खच्चर पर गोली दागनेवाला कौन है.

"साब, आपने यह अच्छा नही किया."

लच्छू की आवाज में विवशता और क्रोध का मिला-जुला भाव था. "मुझे नसीहत करता है." मेजर ने उसकी पसलियों में ठोकर जड़ दी. बूटों की चोट से लच्छू बिलबिला उठा. "साब एक तो आपने. . ."

"यू रास्कल, जबान लड़ाता है." मेजर ने दांत किटकिटाते हुए जड़ दी एक और ठोकर.

इस ठोकर से लच्छू जमीन पर बिछ गया.

मेजर ने कंधे से बंदूक उतारी और लच्छू के सीने पर रख दी. "अब जल्दी से अपनी इस खच्चर को उठवा और यहां से चलता-फिरता नजर आ. नही तो दूसरी गोली तेरे सीने में उतार दूंगा."

लच्छू की आंखों में पीड़ा और भय छलछला आया. वह उठने की कोशिश करने लगा. लेकिन अचानक दहाड़ मारकर रो पड़ा.

"यह मातम अपने छप्पर में जाकर मनाना." मेजर ने कहा और एक उपेक्षा भरी नजर लच्छू पर डाल योद्धा की तरह चलता हुआ पेड़ों के पीछे गुम हो गया.

पहाड़ की तीखी चोटी तब तक सूरज के पेट में खुब चुकी थी. लच्छू को मेजर ने दो-एक बार टोका भी था. लेकिन उसके सामने और कोई चारा भी नहीं था.

वह कस्बे के बाजार से दो-तीन गांवों के लिए माल-असबाब ले जाता था. सड़क से जाने पर उसे तीन कोस का चक्कर पड़ता था. जबकि बगीचे के रास्ते जाने पर उसके समय में बचत तो होती ही थी, कभी-कभी वह दिन में दो फेरे भी लगा लेता था.

खच्चर ऐसी कि नाक की सीध में चलनेवाली. क्या मजाल जो भूले से भी पगडंडी के किनारे उगी घास तक में मुंह डाले. फिर लच्छू खुद शुरू-शुरू में चौकस रहता था. जब देखा कि खच्चर उसकी भाषा को खूब जानने लगी है तब जाकर वह निश्चिन्त हुआ था.

घास का एक-आध तिनका खच्चर के मुंह में चले जाने से मेजर को कोई फर्क तो पड़ने वाला था नहीं. हद से हद कभी-कभार भाड़ पोंछ दिया करेंगे. बड़े लोगों की गाली और उस जैसों की रोजी के बीच सदियों से रिश्ता चला आया है.

इस रिश्ते में कहीं कुछ गलत है. इसमें भला नही है उस जैसों का. लच्छू कुछ-कुछ जानने लगा है ऐसी बातें. आखिर कस्बे में रोज ही आना-जाना होता है उसका. चार जनों को बतियाते देख वह किसी न किसी बहाने खड़ा हो जाता है उनके आसपास. वह पढ़ा-लिखा नहीं. बहुत-सी बातें उसके खोपड़े के ऊपर से निकल जाती हैं. लेकिन कुछ शब्द अटके रह जाते हैं उसके भीतर. भेजा खदबदाते हैं. लगातार. कई-कई दिनों तक. फिर अचानक अपनी गूंज उसके भीतर छोड़कर न जाने क्यों उसकी 'खिंद' के छिद्रों से होते हुए कहीं गुम हो जाते हैं.

खच्चर के इस तरह मर जाने से, उसे लगा, उसकी 'खिंद' के सुराख इतने बड़े हो गये हैं कि उनके पार जाकर उन खोये हुए शब्दों की तलाश के सिवा उसके पास बाकी बचा ही क्या है.

खच्चर खरीदने के लिए कर्जा मिल सकता है, यह बात लच्छू ने गांव में होनेवाली एक मीटिंग में सुनी थी. मीटिंग में इलाके के एक नेता ने अपने भाषण में यह बात कही थी. लच्छू ने मिन्नत-खुशामद कर अर्जी लिखवायी और गांव के प्रधान को सौंप दी थी. फिर छः महीने तक उसकी अर्जी प्रधान और उस नेता के बीच पंख फड़फड़ाती रही.

प्रधान ने आखिर एक दिन लच्छू से कहा, "तुम भी रहे निरे गंवार के गंवार. भई आजकल औरतों का जमाना है. चाहे सिनिमा की खिड़की हो चाहे मोटर अड्डे की. टिकिट सबसे पहले औरतों को ही मिलती है. कल हमारे इलाके के नेता यहां इसी गांव में ठहरेंगे. वहां सबकी सुनवाई होगी. तू भी भेज देना अपनी लाड़ी को. काम हो जायेगा तेरा."

"प्रधान जी, मैं तो ठहरा गंवार. पर मेरी लाड़ी तो मेरे से भी दो पैर आगे है. इतना लंबा तो झुंड (घूंघट) करेगी. बोलेगी चूल्हे की धूड़." लच्छू बोला था.

"अब तेरे साथ कौन मगज खपाई करे. एक तो तेरे को रास्ता सुझा रहा हूं ऊपर से तू वकीलों की तरह जिरह करने लग गया. अब तू जाण और तेरा काम जाणे. फिर मेरे पास आकर मत रोना." कहकर प्रधान अपने काम में लग गया था.

सम्मान पुरस्कार : चार

मेरे आसपास

विष्णु प्रसाद

एक बार सृष्टि की व्यस्तताओं से त्रस्त होकर, ईश्वर आदि शक्ति महामाया की शरण में गये. उन्होंने महामाया से निवेदन किया, "मां, मैं कुछ दिनों के लिये मुक्ति चाहता हूं."

महामाया कुछ देर तक सोचती रहीं और फिर ईश्वर को एक नन्हा-सा बच्चा बना दिया.

मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह बच्चा यहीं कहीं मेरे आस-पास ही होगा. □

● शिक्षक, म्यु. हिंदी शाला, सायन कोलीवाड़ा (गोकुलहाल) बंबई-400022

अगले दिन लाड़ी जब रेस्ट हाउस से वापस आयी तो लच्छू ने छूटते ही पूछा, "हो गया काम."

लाड़ी बड़ी कातर निगाहों से उसे देखती रही.

"अब तू तो ऐसे बिसूर रही है जैसे बकरू कसाई को देखता है. बोलती क्यों नहीं कुछ."

"क्या बोलां. बोलणे जो रई गिया कुछ. तुसां जो तां कम्मे कने गरज थी न. सै होई गिया." कहकर लाड़ो ने अपना चादरू मुंह में ठूंस लिया और भागकर मंजे पर ढह गयी.

"इन्हां जणासां दी मत बी गिट्टयां च हुंदी. कम होई गिया तां खुश होणे दी गल है कि सियापा करने दी." लच्छू बड़बड़ाया था.

फिर दो दिन में ही लच्छू की अर्जी संबंधित विभाग की किसी डाल पर जा बैठी थी.

फिर लच्छू कई दिनों तक उस घने पेड़ का पत्ता-पत्ता छानता रहा. हर रोज यही जवाब मिलता, कल आना.

आखिर लच्छू को अपने गांव का एक आदमी मिला. वह किसी दफ्तर में चपरासी था.

लच्छू ने उसे अपनी कथा सुना दी.

पहले तो वह आदमी हंसा, फिर बोला, "तुम बड़े भोले हो लच्छू. कर्जा कहीं इस तरह मिले है."

"तो फिर कैसे मिले है." लच्छू ने भोलेपन से कहा.

"अरे भई, दफ्तर में छोटे बाबू, बड़े बाबू भी तो हैं. आखिर उन्होंने भी तो अपने बच्चों का पेट पालना है."

"मैं नहीं समझा." लच्छू उसका मुंह ताकता रहा.

"मेरे मिट्टी के माधो, उनकी मुट्ठी गर्म करो. फिर देखो कैसे फटा-फट कर्जा मिलता है."

अब भी लच्छू के चेहरे पर खुदी हुई मासूमियत को देख वह आदमी झल्ला उठा, "मिल लिया तुमको कर्जा."

फिर कुछ सोचकर बोला, "कल सुबह आ जाना मेरे पास. साथ चलकर करवा दूंगा तेरा काम."

अगले दिन सचमुच ही काम हो गया.

शाम को उस आदमी ने पैसे लच्छू के हाथ में धरते हुए एक गहरी निश्वास छोड़कर कहा, "संभालो अपने पैसे और जो मर्जी हो खरीदो."

लच्छू ने नोट गिने. केवल अढाई हजार थे.

"लेकिन यह तो पांच सौ कम हैं. मैंने तो. . .".

"यह तो है ही." लच्छू को बीच में ही टोकते हुए उस आदमी ने ढिठाई से कहा, "शुक्र मनाओ कि पैसे तुम्हें मिल गये. नहीं तो लोग कर्जे के लिए जिंदगी भर दफ्तरों की दीवारों से सर मारते रहते हैं."

फिर लच्छू को पांच सौ की उधारी करनी पड़ी थी. इस शर्त पर कि वह छः महीने में ब्याज समेत मूल भी लौटा देगा.

लच्छू इस मसले पर सलाह ले तो किसकी. घर में लाड़ी है और दो बच्चे. ये क्या सलाह दे सकते हैं. ले-देकर रह जाते है उस जैसे ही दो-चार लोग. जिनके साथ बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए सुख-दुख कर लेता है. हालांकि गांव में इनके अलावा भी लोग हैं. जो सिर जोड़कर बार-बार एक ढीठ मक्खी की तरह अपने गिर्द मंडराते डर को भगाने के लिए घटना की जुगाली करते हुए दिखाई देते हैं.

आखिर अपने जैसे दो-चार लोगों में ही जा बैठा लच्छू. बात चली. पंचायत में इतलहा की जाये. और खच्चर की चीर-फाड़ करवाई जाये डंगर-डाक्टर से.

"मैंने तो रातों-रात खच्चर को ठिकाने लगा दिया था." लच्छू झिझकते हुए बोला.

"लो, जो सबूत था सो तो तूने अपने हाथों मिटा दिया. अब बैठे माला फेरते रहो." एक ने कहा.

"तो क्या करता. खच्चर बगीचे में पड़ी रहती तो मेजर मुझ पर भी बंदूक दाग देता."

"पहले हमसे तो पूछ लिया होता." दूसरा बोला.

"अब तो एक ही जुगत हो सकती है. थाने में रिपोर्ट लिखाई जाये." तीसरे ने सुझाव दिया.

"पर दारोगा तो मेजर का मुंह लगा है." पहले ने शंका प्रकट की.

"पर यह है भी तो जुल्म. आज को लच्छू के साथ हुआ. कल को हमारी बारी भी आ सकती है."

आखिर रिपोर्ट लिखवाने की बात पर सबने एक साथ हामी भर दी.

थाने में सुबह के बैठे-बैठे शाम होने को आयी. बीच-बीच में लच्छू अंदर झांक आता था. पर हिम्मत नहीं पड़ी थी किसी से कुछ कहने की.

उसे याद है उसी के गांव का चंदू क्या उसके पुरखे भी चौधरी की जमीन जोतते आ रहे थे. सरकार ने जब कानून बना दिया कि जमीन मुजारों की हो जायेगी तो चौधरी ने चंदू को जबरन बेदखल कर दिया था. जब चंदू ने इसके खिलाफ आवाज उठायी तो उसकी जमकर पिटाई हुई थी. चंदू रोता-कलपता थाने पहुंचा था. लेकिन वहां लगी मार से तो वह अधमुंआ ही हो गया था. बेचारा आज तक लंगड़ा कर चलता है.

पुलिस का खौफ सुबह से ही उसके अंदर नंगा होकर नाच रहा था. एक सिपाही ने लच्छू को ताक-झांक करते पकड़ ही लिया.

"क्यों बे, रात को थाने में ही सेंध लगाने की ब्योंत कर रहा है क्या?"

और सिपाही ने उसे मुख्य दरवाजे की सीढ़ियों की ओर धकेल दिया.

"नहीं, हौलदार साब, मुझे तो रिपोट लिखानी है." लच्छू ने हौसला बटोरकर कहा.

"काहे की रिपोट. तेरी जोरू भाग गयी किसी के साथ?" सिपाही ने चटखारा लिया.

"जी नहीं, मेरी खच्चर मार दी है." लच्छू ने जैसे अरसे से कंठ में घुमड़ते शब्दों को बाहर धकेलकर राहत की सांस ली.

सिपाही पलभर कुछ सोचता रहा. फिर उसे अंदर की ओर धक्का देते हुए बोला, "तो इतनी देर से यहां अपनी अम्मा को ढूंढ रहा था. जा,

जाकर अंदर मुंशी जी से बात कर.

और सिपाही दनदनाता हुआ गायब हो गया.

"तेरा नाम?"

मुंशी कागज पेंसिल सामने रखकर बिना किसी भूमिका के शुरू हो गया.

"लच्छू."

"बाप का नाम?"

"अच्छरू."

"गांव?"

"बीहड़पुर."

"किसने मारा तेरी खच्चर को?"

लच्छू चुप.

मुंशी शायद सवालो-जवाब के इस तरीके का इस कदर अभ्यस्त हो चुका था कि वह अपनी ही आवाज पर मोहित-सा धड़ाधड़ सवालों की फलियां खोलता चला जा रहा था. उसकी आवाज के इस एक ही सुर में बजते तार पर अचानक खामोशी का पत्थर आ गिरा था. अपने आप को शून्य में लुड़कते पा वह खलबला गया.

उसकी नजरें लच्छू के चेहरे से रबर की गोली की तरह जा टकराई.

लच्छू का शरीर पत्थर लगने पर सिरहते कांच की तरह झनझना उठा. उसने नजरें नीची कर लीं.

"अबे तू तो नयी-नवेली की तरह शरमा रहा है. साले यह तेरा ससुराल नहीं. जल्दी से बक. मुझे तेरा ही स्यापा नहीं है."

मुंशी ने अपने अंदर मची हुई सारी खलबली को अंगारों की तरह लच्छू पर उलीच दिया.

"साब. . .वो. . .वो. . ." लच्छू फिर हकलाने लगा. मुंशी तमककर खड़ा हो गया. "दफा हो जा यहां से." उसने लच्छू को बालों से पकड़ कर झिंझोड़ दिया.

"साब वो मेजर साब ने. . ."

मुंशी की चेतना के साथ यह नाम हथौड़े की तरह टकराया. और उसके दिमाग में एक लाल बल्ब तेजी से जलने-बुझने लगा.

"क्या बकता है बे. दिन में ही चढ़ा रखी है क्या?" मुंशी की आवाज में थोड़ा-सा खम आ गया था. "मैं ठीक कह रहा हूं साब. मेरे सामने ही..." लच्छू का वाक्य पूरा होने से पहले ही मुंशी ने सिपाही को आवाज दी. "प्यारे लाल, इस मच्छर की दुम के पहले दो चार बेंत जमा फिर उठाकर कहीं दूर तक फेंक आ."

"चल बे गंजई." सिपाही की टांग हरकत में आ गयी. "साब मेरी बात तो सुन लो."

"बड़ा फड़फड़ा रहा है साले." और फिर लात-घूंसे बरसने लगे लच्छू पर.

जब सिपाही थक गया तो उसने लच्छू को सीढ़ियों पर लुढ़का दिया. "अब अगर तेरे को थाने के आस-पास देखा तो खोदकर गाड़ दूंगा." सिपाही ने अपनी फूली हुई सांस में जबरन रौब ठूंसते हुए कहा.

लच्छू कुछ देर सीढ़ियों के पास निश्चेष्ट-सा पड़ा रहा. फिर पूरी ताकत लगाकर उठ खड़ा हुआ. उसने थाने की ओर मुंह करके सीढ़ियों पर थूक दिया.

सीढ़ियों पर खून के छींटे देश के नक्शे की तरह छितरा गये थे.

कस्बे में नये-नये आये युवा ए. डी. एम. ने थोड़े अरसे में ही काफी ख्याति अर्जित कर ली थी. वह सही को सही और गलत को गलत कहने की हिम्मत रखता है. गरीब आदमी की बंगले पर भी सुन लेता है और मोतबिर लोगों को बैठने को भी नहीं कहता. कस्बे के आंगन-आंगन, गली-गली ऐसी बातें धूप की तरह फैली हुई थीं.

पहले तो लच्छू तैयार ही नहीं हुआ. क्या फायदा बात को आगे बढ़ाने का. एक तो तीन हजार की चपत लगी. तिस पर हड्डियां भी तुड़वायीं. नीचे से ऊपर तक सब एक ही थैली के गिट्टे-पत्थर हैं. फिर सलाह देनेवालों की तो सिर्फ जुबान हिलती है. झेलना तो उसे ही पड़ेगा. क्या जाने ए. डी. एम. के यहां भी मामला उलटा ही पड़े.

मेजर के बारे में भी तो लोग ऐसी ही बातें करते थे. अपने चार साथियों से ढेर कहा-सुनी के बाद लच्छू राजी हुआ. तड़के ही वह ए. डी. एम. के बंगले के बाहर एक पेड़ के नीचे जाकर बैठ गया. साब फाटक से ही तो बाहर जायेंगे, उसने सोचा. इसलिए अपनी आंखें फाटक पर गड़ाये रहा.

सूरज काफी ऊपर उठ आया था. धूप पत्तों से छनकर लच्छू की ठिठुरती देह में उतरने लगी थी. उसे लगा, अब जरूर साब के आने का टैम हो गया होगा. देह में इकट्ठा हुई गरमाई ने उसे अपने पैरों पर खड़ा कर दिया. वह फाटक के पास सरक आया.

कोई आदमी बंगले के आंगन में लगे फूलों को पानी दे रहा था. उसकी पीठ फाटक की ओर थी.

'यह आदमी साब तो हो नहीं सकता. ऐसा काम तो नौकर-चाकर ही करते हैं. क्यों न साब के बारे में इसी से पूछ लिया जाये.' लच्छू ने सोचा.

उसने जोर से गला खंखारा. पर वह आदमी अपने काम में कुछ इस हद तक तल्लीन था कि दो-तीन बार गला खंखारने पर भी वह अपने काम में खोया रहा.

लच्छू को न जाने क्या सूझा. उसने एक छोटा-सा कंकड़ उठाकर उस आदमी की तरफ फेंका. दुर्भाग्यवश कंकड़ ठीक उस आदमी के सर पर जाकर लगा. हालांकि लच्छू की कतई यह मंशा नहीं थी.

एक बार तो लच्छू के मन में आया कि तुरंत लौट जाये. तभी उस आदमी ने चौंककर पीछे की ओर देखा.

लच्छू पर नजर पड़ते ही उसने 'फुआरा' जमीन पर पटका और तेजी से फाटक की ओर लपका.

"पत्थर तूने मारा." उसने फाटक को सलाखों को भींचते हुए कहा.

"भाई बात ऐसी है कि. . ."

"पहले यह बता कि पत्थर तूने मारा था." वह एक-एक शब्द को जैसे दांतों से काटते हुए बोला.

उसके बोलने के अंदाज से लच्छू झटका खा गया. उसके अंदर बंधी गुस्से और खीझ की गांठ अचानक कुछ ढीली हो गयी.

'हां, मैंने ही मारा था.' लच्छू ने इन शब्दों को अपने भीतर ही फटने दिया.

प्रयक्षतः बोला, "वो तो आपको बुलाने के लिए था."

"तो मैं क्या बोला (बहरा) हूं या डंगर हूं." कहकर वह वापिस जाने लगा.

"साब है अंदर." लच्छू ने मुट्ठियों से निकल भागते मौके को उंगलियों से थामने की कोशिश की.

कहीं ऐसा न हो कि यह साब के कान भर दे. अगर यह आदमी साब का मुंहलगा हुआ तब तो उसके 'हड्डू' में भात नहीं कंकड़ ही पकेंगे.

"है." उस आदमी ने ऐसे जवाब दिया मानो कह रहा हो, "है लेकिन तुमसे मतलब."

"मुझे एक पारथना करनी है साब से."

"नहीं कर सकते. हर ऐरे-गैरे के लिए टैम नहीं है साब के पास." इससे पहले कि लच्छू कुछ कहता सामने से आते हुए एक व्यक्ति ने कहा, "क्या बात है माली?"

लच्छू समझ गया, यही हैं साब.

तभी ए. डी. एम. की नजर लच्छू पर पड़ी.

"क्यों भई, क्या चाहिए?"

"साब मुझे एक पारथना करनी है आपसे."

ए. डी. एम. ने गेट खोल दिया.

माली अपने साब का रुख देख अपने काम में लग गया.

"अंदर आ जाओ." कहकर ए. डी. एम. लान में पड़ी कुर्सी पर बैठ गया और लच्छू सामने घास पर.

"अब कहो क्या कहना है."

"साब, बात यूं है कि. . ." कहते-कहते लच्छू अटक गया.

"घबराओ नहीं. जो कहना है निडर होकर कहो. यहां तुम्हें किसी से डरने की जरूरत नहीं."

ए. डी. एम. के इस तरह नरमी से पेश आने पर लच्छू का दिल गज भर का हो गया.

"हुजूर, मैं बरबाद हो गया. मेजर साब ने मेरी खच्चर पर गोली दाग दी." कहते-कहते लच्छू रुआंसा हो आया. उसकी आंखों के सामने छटपटाता खच्चर घूम गया. लगा जैसे गोली खच्चर को नहीं उसे लगी है.

"गोली मार दी? लेकिन क्यों?"

लच्छू ने आपबीती सुना दी. उसकी कहानी सुनकर ए. डी. एम. गहरी सोच में डूब गया. लच्छू की आंखें ए. डी. एम. के चेहरे से चिपक गयीं. उसके लिए यह समझना मुश्किल था कि साब के चेहरे पर कौन-कौन से रंग आ जा रहे हैं. पर एक बात जो लच्छू भी साफ-साफ देख रहा था वह यह थी कि साब का चेहरा खड्ड के उस पत्थर की तरह हो गया था जिसे बरसात का तेज पानी भी 'रुठाने' (बहाने) में कामयाब नहीं होता.

"तुमने थाने में रिपोर्ट दर्ज करवाई है?"

"जी गया था. लेकिन मेजर साब का नाम सुनते ही मुझ पर कहर टूट पड़ा. रिपोट भी दर्ज नहीं की."

"हूं." कुछ पल की खामोशी. फिर ए. डी. एम. ने कहा, "तुम जाओ मैं देख लूंगा."

"पर साब हमको न्याय तो मिलेगा न?"

"तुम कचहरी चलकर एक अर्जी लिखकर दो. बाकी मैं देख लूंगा." ए. डी. एम. ने उठते हुए कहा.

लच्छू ने साब को सलाम किया और कचहरी की ओर चल दिया.

लच्छू से अर्जी लेने के बाद ए. डी. एम. ने अपने ड्राईवर को बुलाकर कहा, "तुम अभी, इसी वक्त एक सिपाही लेकर जाओ और मेजर भवानी सिंह को बुलाकर लाओ."

ड्राईवर ने थाने से एक सिपाही साथ लिया और मेजर के घर जा पहुंचा.

मेजर कहीं जाने के लिए बाहर निकला ही था कि सामने जीप से उतरते सिपाही को देख ठिठक गया.

"आपको ए. डी. एम. साहब ने बुलाया है."

मेजर फौरन ताड़ गया माजरा क्या है. फिर भी अनजान बनते हुए पूछा, 'किसलिए बुलाया है?"

"यह तो वे ही जानें. पर आपको इसी वक्त हमारे साथ चलना होगा." सिपाही का स्वर सपाट था.

'रास्कल, जिसका दिया खाते हैं उसी को आंख दिखाते हैं.' मेजर ने सोचा. आगे-पीछे तो चले आयेंगे, 'मेजर साब, थानेदार साब को फलां चीज बहुत पसंद है.' जैसे इनके बाप का घर हो. ये पुलसिये भी किसी के नहीं होते.

"अपने साब से कह दो मैं किसी जरूरी काम से कहीं जा रहा हूं. मेरे पास टाइम नहीं है." मेजर ने उपेक्षा से कहा.

"देख लीजिए. साहब का हुक्म है." सिपाही ने जताया.

"देख लूंगा. तुम अपना रास्ता नापो." मेजर ने रूखेपन से कहा.

"आपकी मर्जी." सिपाही की आवाज में चैलेंज था.

जीप के आंखों से ओझल होने तक मेजर दरवाजे पर खड़ा रहा उसके होठों पर मुस्कराहट रेंगने लगी थी.

बाहर जाने का खयाल छोड़ उसके पांव अंदर की ओर मुड़ गये. मेजर के यहां अक्सर पार्टियां होती रहती थीं. सभी छोटे-बड़े अफसर मौजूद रहते थे इन पार्टियों में. लेकिन यह एम. डी. एम. बार-बार बुलाने पर भी शामिल नहीं हुआ था इनमें.

मेजर मन-ही मन ऐंठकर रह जाता. और अपने अपमान का बदला लेने की फिराक में रहता.

आज उसने ए. डी. एम. के हुक्म की खिल्ली उड़ाकर अपने को बड़ा कर लिया था. इसलिए खुशी ने उसे दोनों हाथों से दबोच लिया था.

उसने आलमारी से इंपोर्टेड व्हिस्की निकाली और इस खुशी को 'सैलीब्रेट' करने में जुट गया.

अभी मुश्किल से दो ही पेग मेजर के हलक में उतरे थे कि बाहर फिर जीप की घरघराहट ने उसे चौंका दिया. इससे पहले कि वह कुछ सोच पाता 'कालबेल' घनघना उठी.

मेजर ने गिलास में बची व्हिस्की कंठ में उंडेली. बोतल उठाकर आलमारी में रख दी. आलमारी के पट बंद करते हुए उसे अचानक ऐसा महसूस हुआ कि उसके हाथ कांप रहे हैं.

'इज इट बिकाज ऑफ दिस ब्लडी व्हिस्की और. . .' मेजर के भीतर एक सवाल उछला.

घंटी फिर घनघनाई.

'नो. . .नो. . .' इस खयाल को झटकते हुए मेजर बुदबुदाया और बढ़कर दरवाजा खोल दिया.

सामने दो बावर्दी सिपाही खड़े थे.

"नाउ वट द हैल. . ."

लेकिन एक सिपाही ने मेजर को बीच में ही लपक लिया.

"साहब ने आपको फिर बुलावा भेजा है. और कहा है कि इस बार इनकार करें तो. . ."

सिपाही ने अपनी बात अधूरी छोड़ दी और हथकड़ी आगे कर दी.

मेजर को एक तेज झटका लगा. उसके दिमाग में तैरती नशे की धुंध अचानक सिमटकर एक गोले में तबदील हो गयी और गले से होती हुई पेट के किसी निचले हिस्से में समा गयी.

"इसकी जरूरत नहीं." मेजर भरसक कोशिश के बावजूद अपनी आवाज में पड़नेवाली दरार को छिपा नहीं पाया था.

फिर मेजर कचहरी में खड़े-खड़े कसमसाता रहा दिन भर. खासकर कचहरी में लगे अमरूद के पेड़ के नीचे बैठे लच्छू को देख तो वह और भी आग बबूला हो उठा.

'यू स्वाइन. दूसरी गोली तेरे सीने में उतारूंगा.' मन ही मन बकता रहा.

छोटे से कस्बे में कौन नहीं जानता था मेजर को. उस मेजर को जो लाखों की संपत्ति का मालिक था. जो सत्ता के हर बिल में सांप की तरह आता-जाता था. और जो अगले चुनावों में एम. एल. ए. की सीट का जबरदस्त प्रत्याशी था.

कचहरी में उसे सिपाहियों से घिरे देख बहुतों को हैरानी हो रही थी, और उत्सुकता भी.

▣ केशव

अब तक दो कहानी संग्रह, पांच कविता संग्रह और एक संपादित पुस्तक प्रकाशित. 'फासला' कहानी संग्रह पर हिमाचल साहित्य सम्मान और कविता पर राष्ट्रीय पीपुल्स एवार्ड से सम्मानित.

संप्रति : 'शिखर' पत्रिका का संपादन-संचालन, और हिमाचल प्रदेश में सरकारी सेवा.

आखिर एक परिचित ने पूछ ही लिया, "मेजर साहब, आप यहां कैसे?"

"यू स्काउंड्रल." मेजर ने आव देखा न ताव, चढ़ दौड़ा उस पर बिगड़े हुए भैंसे की तरह.

यह तो सिपाहियों ने बीच-बचाव कर दिया वरना पूछने वाले की खैर नहीं थी.

ठीक पांच बजे मेजर की बुलाहट हुई.

मेजर झल्लाया हुआ भीतर घुसा.

"यह क्या मजाक है. किसी शरीफ आदमी को इस तरह बेइज्जत करना कहां का इंसाफ है."

"मेजर साहब, शांत हो जाइये. गुस्सा सेहत के लिए अच्छा नही होता." ए. डी. एम. ने जैसे पुचकारते हुए कहा.

ए. डी. एम. के चेहरे पर खेलती मुस्कराहट को देख मेजर के तन बदन में आग-सी लग गयी.

"आई एम नाट गोइंग टू टालरेट दिस. यू विल हैव टू. . ."

मेजर के भीतर कुछ झनझनाकर टूटा और बाकी के शब्द उसके अंदर ही कूदते रह गये.

कचहरी के कमरे में मौजूद कर्मचारी कुछ अचंभित थे.और सांप-नेवले के इस तमाशे का मजा भी लूट रहे थे.

"यू आर अंडर अरेस्ट."

एकाएक ए. डी. एम. की आवाज हथौड़े की तरह दीवारों से टकरायी और पलटकर मेजर की देह में समा गयी.

ए. डी. एम. उठकर दरवाजे की ओर बढ़ चुका था. दरवाजे पर अचानक ए. डी. एम. के कदम ठिठक गये. वह पीछे मुड़ा और मुस्कराते हुए बोला, "अगर आप चाहें तो कल अपनी जमानत करवा सकते हैं."

अगले दिन जमानत करवाने के बाद मेजर ने अचानक अपना जन्म दिन मनाने की घोषणा कर दी.

आसपास के सभी जाने-माने व्यक्ति और अधिकारी आमंत्रित हुए. इलाके के एम. एल. ए. को बुलाना भी मेजर नही चूका.जिले के एकमात्र मंत्री ने भी आना मान लिया था. पर ऐन वक्त पर कोई काम निकल आने की वजह से मंत्री ने अपनी असमर्थता का समाचार भेज दिया था.

हां, ए. डी. एम. को मेजर ने विशेष तौर पर निमंत्रण दिया. टेलीफोन पर.

"ए. डी. एम. साहब, शाम को गरीबखाने पर पधारने की कृपा करें. खाकसार का जन्म दिन आपके बिना फीका लगेगा."

ए. डी. एम. ने उसकी आवाज में बैठे बिच्छू को नजरंदाज करते हुए चिरपरिचित लहजे में कहा, "जहां तक मेरा खयाल है अभी पिछले महीने ही अपना जन्म दिन मना चुके हैं आप."

"जन्म दिन तो बहाना है. आप जैसे महापुरुषों के दर्शन हो जाते है इस बहाने."

मेजर की रेत जैसी आवाज ए. डी. एम. के कानों में समा गयी.

फिर ए.डी. एम. की "अच्छा!" कुछ पल मेजर के कान के पर्दे से पेंडुलम की तरह टकराती रही.

"तो फिर आप आ रहे हैं न?" कुछ पल लाइन पर खामोशी छाई रही. . . "वैसे सभी आ रहे हैं."

लेकिन उधर रिसीवर रख दिया गया था. आखिरी वाक्य किसी स्प्रिंग की तरह लौटकर मेजर की चेतना से टकराया था.

जन्म दिन क्या अच्छा-खासा उत्सव था. रात गये तक आसमान का एक हिस्सा रोशनियों की नोंक पर टंगा रहा. कहकहे उस टुकड़े को नोंक पर उछालते रहे. और कस्बे वाले अपनी छतों से उस खेल को देखते हुए कहते रहे, "ऐसा जश्न तो मेजर के बेटे की शादी में भी नहीं हुआ होगा."

उत्सव के बाद सप्ताह भर में ही मेजर का केस डी. एम. के पास ट्रांसफर हो गया. उधर साथ-ही-साथ ए. डी. एम. के ट्रांसफर आर्डर भी पहुंच गये.

इधर मेजर का टेलीफोन पहुंच गया ए. डी. एम. के घर.

"सुना है आपका ट्रांसफर हो गया है."

"आपने ठीक सुना है." ए. डी. एम. ने हंसते हुए कहा. 'किस मिट्टी का बना हुआ है यह आदमी.' मेजर ने सोचा.

"यह तो बहुत बुरा हुआ. आप जैसे ईमानदार और गरीब परवर आदमी के साथ ऐसा सलूक? फिर भी मेरे लायक कोई सेवा हो तो मैं हाजिर हूं."

मेजर की आवाज दंभ के खंडहर में चकरा रही थी.

"मिस्टर भवानी सिंह, हवा पूछकर अपना रुख नहीं बदलती. और जब बदलती है तो दूसरों के घरों में लगायी आग अपने घर को भी निगल जाती है." कहकर ए. डी. एम. ने रिसीवर रख दिया

मेजर को लगा, उसकी देह बड़ी तेजी से शहतीर में तब्दील होती जा रही है.

फिर महीनों तारीखें पड़ती रही, डी. एम. की कचहरी में. लच्छू तारीखें भुगतने जाता रहा.

हर तारीख पर वह सुबह ही कचहरी पहुंच जाता. दिनभर कभी आधे, कभी खाली पेट अपनी पुकार की इंतजार करता. पलभर भी कचहरी छोड़कर न जाता. पता नही कब पुकार हो जाये. मौके पर हाजिर न हुआ तो. . .

और शाम को पता चलता, अगली तारीख पड़ गयी है.

आखिर एक दिन अंत हुआ, लच्छू के इस आतंकभरे इंतजार का. फैसले की घड़ी आन पहुंची. 'लनडं' डी. एम. ने फैसला सुनाया.

"पशु चिकित्सक की रिपोर्ट के मुताबिक खच्चर को जानलेवा बीमारी थी. ऐसी बीमारी जिससे खच्चर कभी भी, कहीं भी, किसी भी वक्त मर सकती थी. बीमारी का पूरा ब्यौरा पशु चिकित्सालय के रजिस्टर में दर्ज था. यह भी दर्ज था कि खच्चर को उस बीमारी के इलाज के लिए तीन बार चिकित्सालय में लाया गया था. चिकित्सालय का रजिस्टर, इस मुकद्दमे का एकमात्र गवाह, सबूत के तौर पर पेश किया गया.

"खच्चर गोली से मर सकती है तो बीमारी से भी मर सकती है. क्यों कि पहले हालात में मौका-ए-वारदात का कोई चश्मदीद गवाह नही है और चूंकि दूसरे हालात में पेश किया गया सबूत काबिले यकीन है. लिहाजा इन हालातों को मद्देनजर रखकर संदेह का लाभ देते हुए मेजर भवानी सिंह को बाइज्जत बरी किया जाता है."

लच्छू हैरान-परेशान. कौन-सा हस्पताल? कैसी बीमारी? लेकिन हजारों लोग ऐसे सवालों की सूली पर टंगते आये है, टंगते रहेंगे. फिर लच्छू बेचारे की क्या बिसात!

लच्छू को तो चार जीवों का पेट पालना था. लच्छू को कर्जा उतारना था, कर्जा उतारने की अवधि निकट से निकटतर आती जा रही थी. लच्छू के कानों में हथकड़ियां बजने लगती थी.

लच्छू को यकीन नहीं हो रहा था कि आदमी इतनी तेजी से खच्चर भी बन सकता है.

वह भागता रहा. कस्बे और गांव, गांव और कस्बे के बीच. पीठ पर माल-असबाब लादे. दिन में एक बार. . .दो बार. . .धांय!

एक दिन फिर पेड़ों के पीछे से गोली छूटती है. और पहाड़ की नंगी चोटी सूरज के सीने में खुभ जाती है. □

● पाइन हिल कॉटेज, छोटा शिमला, शिमला

नये साल पर लोगों ने नये कैलेंडर टांगे. बधाई पत्र भेजे और उसने मातम के सैकड़ों फटे हुए खत संदूक में रख लिये. एक जनवरी को उसके पति की मौत हुई. मौत, ऐसी मौत जो हजारों दर्द के गोवर्द्धन उसके सिर पर रख गयी. और तब से संध्या की जिंदगी में जो बचा वह था शाम का धुंधलका. आठ वर्षीय इंदु को कई दिन सीने से चिपकाये रही. मां भीगी आंखों से बेटी को चुप करती. बेटी सुबकते-सुबकते मां की आंखें पोंछती. इंदु के बाल-सुलभ वाक्य संध्या को झकझोर कर रख देते, "मम्मी, ये पापा की बेल्ट है न. खूंटी पर लटका दूं. . . . मम्मी, पापा के बूट पालिश कर दूं?. . . मम्मी, पापा का लंच बाक्स तैयार कर दूं?. . . पापा की ऐनक. . . ." और न जाने कितनी बातें इंदू कह जाती. इंदु के अपरिपक्व मन पर यह बात पूरी तरह बैठी ही नही थी कि पापा उनके बीच नहीं रहे. इंदु का हर मासूम फिकरा संध्या को सोच की तलहटियों में धकेल देता. और जब इंदु को अपनी कही गयी बात का ध्यान आता तो गुमसुम-सी बैठ जाती किसी कमरे में.

बत्तीस साल की भरी जवानी में वैधव्य का बोझ-उदास खंडहरों में जिंदगी व्यतीत करने जैसा था. दीपक तो महाप्रस्थान कर गया था और

सम्मान पुरस्कार : पांच

टापू

ज्ञान प्रकाश विवेक

क्या आदमी चाहकर भी अकेला रह सकता है . . .? कैसी होती हैं वे स्मृतियां जिनके सहारे आदमी पूरी उम्र काटने को तैयार हो जाता है . . . और कैसी हो जाती है एक औरत की जंग खाई जिंदगी . . . जब उसे अकेलापन सालने लगता है . . . . ! एक उभरते हुए कहानीकार की मार्मिक रचना—

छोड़ गया था संध्या को जीवन के दुर्गम पथ पर. स्थूलमना नहीं थी कि किसी दूसरे खूंटे पर बंध जाती. और शेष जिंदगी अपने शरीर को भोग की वस्तु समझकर दूसरे के लिए छोड़ जाती. साफ इनकार कर दिया था संध्या ने. . . "दूसरी शादी? कभी नही करूंगी. . . क्या. . . क्या कुछ दिनों में, कुछ महीनों में सब कुछ भुलाया जा सकता है। पांच वर्ष किसी की विवाहिता रही हूं और अगले दस वर्ष किसी दूसरे की. . . यही न. नारी हूं या गाय. यहां से खोली वहां बांध दी. . . दीपक नहीं रहे तो उनकी यादें तो हैं. उनकी एक-एक स्मृति को जिऊंगी. . सहेजूंगी. . ."

"ये सब फजूल की बातें है. औरत के लिए सारी उम्र अकेले बसर करना बहुत मुश्किल है. आगे तुम खुद फैसला कर लो." पिताजी ने औपचारिकता में डूबा एक फिकरा बोलकर अपने फर्ज से छुट्टी पा ली. मां-बाप के घर एक ही दिन रुकी. भाइयों की दबी आवाज को उसने सुन ही लिया. तीनों भाई एक दूसरे से झगड़ते रहे, "संध्या को तू रख. . . नहीं मैं क्यों रखूं? तू रख."

संध्या दूसरे दिन वापस चली आयी. भाइयों से रिश्ता तोड़ने का वह आखिरी दिन था. इसके बाद न वे आये न संध्या ही गयी.

सम्मान पुरस्कार : पांच

बोहनी

सिदेश्वर

उस गरीब मछुआरे के पास एक ही लड़का था. बहुत लाड़-प्यार से पाला था, उसने अपने एकलौते बेटे को.

लेकिन भगवान की भी अजीब माया होती है. उसने कितनी निर्दयता से उसके एकलौते बेटे को भी छीन लिया. कल शाम कोठे पर पतंग उड़ाते-उड़ाते अचानक फिसल गया और सीधे जमीन पर आ गिरा. उसका पिता अपने घायल बेटे को लेकर सीधे अस्पताल जा पहुंचा. मगर, डाक्टरों ने उसके बेटे को मृत घोषित कर दिया.

भारी मन लिये अपने बेटे की अर्थी सजायी उसने. उसके कदम श्मशान घाट की तरफ बढ़ते जा रहे थे. उसने अपने पीछे दो पुलिस कर्मचारियों को बतियाते हुए सुना, "स्साला, किसका मुंह देखा था यार. सुबह से शाम तक एक पैसे की बोहनी नहीं हुई."

दोनों पुलिसकर्मी श्मशानघाट तक उसके पीछे-पीछे चलते रहे. उसने अपने बेटे की अर्थी को कंधे पर से उतारा ही था कि एक पुलिस मेन ने अपनी मूंछ को ऐंठते हुए रोबदार स्वर में कहा, "अबे, ये लाश किसका है रे?"

"मेरे जवान बेटे का हुजूर."

"कैसे मारा गया बे?"

"पतंग उड़ाते समय पैर के फिसल जाने से गिर गया मेरा बेटा." और मछुआरा सुबकने लगा.

"चोप्प स्साला. आंसू बहाने का नाटक छोड़. मुझसे भी झूठ बोलता है बे. तूने जानबूझकर अपने बेटे को कोठे पर से धक्का दिया है. मैंने देखा है. पहले चल बेटा थाने, वहां तेरे बेटे का पोस्टमार्टम किया जायेगा."

मछुआरा हतप्रभ होकर उसे देखता रहा. मामला उलझ न जाये, इस भय से उसने पचास रुपये का नोट उसकी तरफ बढ़ा दिया. पुलिस कर्मी अब चुपचाप चले गये, क्योंकि उनकी बोहनी हो चुकी थी. . . □

● भारतीय युवा साहित्यकार परिषद करबिगिहिया, पटना-1

इंदु स्कूल जाती, सहेलियों से गपियाती. आती तो मोहल्ले की लड़कियों में धमा-चौकड़ी. होम-वर्क. . . वह तो अपनी व्यस्तता के कारण पिता की गैरमौजूदगी को ज्यादा न महसूस कर सकी. लेकिन संध्या, संध्या कैसे हटाती मानसपटल पर अंकित हुए स्मृति-चिन्ह? हर वक्त-खायी-खोयी, सोचते-रहना उसका स्वभाव बन गया था.

इंदु बड़े जोश के साथ अपने स्कूल के किस्से सुनाती. लेकिन मम्मी का भावहीन चेहरा इंदु के मुंह पर सेलो टेप चिपका देता. इंदु की किशोर उमंगें घर आते ही ठंडी पड़ जातीं. कपड़े बदलती, दो-चार कौर मुंह में डालती और होमवर्क करने जा रही हूं जैसी संक्षिप्त सूचना फेंक कर चल देती. संध्या फिर अकेली की अकेली. वही दीवार से उतरती धूप को ताकते रहना, कव्वे की कांव-कांव सुनना, कबूतरों द्वारा बिखराये तिनकों को इकट्ठे करते रहना. साफ चीजों को फिर-फिर साफ करना. . .शायद वक्त गुजारने का नायाब तरीका था.

घर का माहौल रूठा-रूठा-सा लगता. मां-बेटी में बहुत कम गुफ्तगू होती. संध्या, इंदू से बात करने के अवसर ढूंढती रहती. पर इंदु बड़ी सफाई से कन्नी काट जाती. संध्या के लिए यह आघात भी कौन-सा कम था.

हर बात को मन में रख लेना, संध्या की आदत में शुमार हो गया था. संध्या की ममता उसे इंदु के पास खींच ले जाती और इंदु एक हद तक मां से चिढ़ गयी थी. चिढ़ने का मूल कारण मां का लोहे जैसा ठंडा चेहरा था. 'आंटी नमस्ते'. . .सहेलियों के मुस्कराते अभिवादनों का उत्तर संध्या ने हमेशा सिर हिलाकर बिना बोले दिया था. इंदु के बालमन पर ऐसी कई परतें जम गयी थीं.

दिन में दो-तीन बार घर का द्वार खुलता. जब जब इंदु स्कूल जाती, तब, जब लौटती, तब या फिर जब-तब सब्जीवाला सब्जी देने आता.

संध्या को याद नहीं मोहल्ले में किसी से बात की हो. किसी को बुलाया हो या किसी के घर गयी हो.

शहर के बीचोंबीच खड़े खंडहर जैसी थी संध्या. पूरे शहर में चहल-पहल, शोर-शराबा, मस्तियां, कहकहे. . . और संध्या उदास खामोशियों का विमोचन करती प्रतीत होती.

ससुराल के लोग मर-मरा गये थे. भाइयों ने कभी इधर मुंह न किया. शायद सोचा भी नहीं कि बहन जिंदा है या. . .

कोई चिट्ठी ही आ जाती. पर किसकी? मेरा अपना कोई भी तो नहीं. जो चार लाइनें ही लिख भेजे. कैसी है संध्या? वक्त कैसे गुजरता है? पेंशन का पैसा कम तो नहीं पड़ता, हमारी कुछ मदद. . . अब न आयेगा यहां दर्द का मारा कोई. . . दीर्घ श्वास लेकर कहती. टटोलती आंखों के आसपास के गीलेपन को.

तवे पर रोटी सेकते हुए अचानक संध्या खिलखिला पड़ी. रोटी जल रही है इस बात की सुध ही नहीं थी. बस, हंसती जा रही थी. इंदु मां को देखकर चकित थी. क्या हो गया है मम्मी को.

"मम्. . . मी." चीखकर बोली इंदु.

"अरी, बात याद आ गयी. बस, नहीं रोक सकी हंसी. वो. . . वो दीपक थे न. मेरी मुट्ठी ही नहीं खोल सके थे."

"कब?"

"शादी वाले दिन. . . खूब जोर लगाया. पर मैंने भी तय कर लिया था नहीं खोलूंगी. उस वक्त कोई होता तो देखता दीपक का चेहरा."

"तो इसमें हंसने की क्या बात है मम्मी?"

"हंसने की बात. . . ?"

"हां, हंसने की क्या बात है? इसमें हंसने वाली बात तो. . ."

कोई होता तो संध्या के मन पर बरसों से जमी बर्फ को अपने प्यार की धूप से पिघला देता. लेकिन उसे मिला भयानक अकेलापन, त्रस्त कर देने वाला सन्नाटा, पांच कमरोंवाला मकान, सांय-सांय करते खाली कमरे, दीवारों से उतरती जर्द धूप.

संध्या, हंसना चाहती थी पर हंस नहीं सकती थी. बात करना चाहती थी लेकिन सुनने वाला न था.

संध्या के हजारों विरोधों के बावजूद, इंदु ने अपनी पसंद के लड़के से शादी कर ली. संध्या और भी अकेली पड़ गई.

संध्या के हजारों विरोधों के बावजूद, इंदु ने अपनी पसंद के लड़के से शादी कर ली. संध्या और भी अकेली पड़ गई.

कभी दोपहर, कभी शाम. . .रिक्शा करती और इंदु के घर चल पड़ती, 'इंदु खुश है न. किसी चीज की कमी तो नहीं. ला, मैं लगा दूं सिर में तेल. अरी साड़ी का फाल दिखा मैं लगाऊं. बहुत बारीक करती हूं तुरपाई.'

इंदु का पति होता तो कहती, "अजयजी, आज मैं बना देती हूं आपके लिए खाना. . . आप और काम कर लो जी, कपड़े इस्त्री मैं कर देती हूं. . ."

एक दिन दोपहर को इंदु ने स्पष्ट शब्दों में कह डाला, "मम्मी, फालतू की दखलंदाजी अच्छी नहीं होती." कहना तो यह भी चाहती थी. . .'ज्यादा मत आया करो' लेकिन काबू पा गयी अपनी जबान पर.

और फिर एक दिन ऐसा ही हुआ. अजय और इंदु बातों में मशगूल थे. संध्या का होना दोनों की आजादी में बाधक था. संध्या थी, कि बिना सोचे-समझे उनकी बातों में टपक पड़ती, "दीपक थे न! बस्स क्या कहूं बड़े सौम्य, सलीकेदार."

दोनों चुप हो गये.

साड़ी की बात चली.

"अरे, इस लाल रंग से तो मुझे बड़ी चिढ़ रही है, दकियानूसी रंग. . . मुझे तो फॉन कलर. . ." संध्या बात पूरी कर न पायी थी कि अजय उठ गया. और कुछ पल बाद इंदु भी बाहर चली आयी. रह गयी अकेली संध्या.

"इंदु ये तुम्हारी मां है या. . ."

"अजय प्लीज, डोंट माइंड. तुम मम्मी को नहीं जानते. उम्र के अठारह साल अकेले बिता दिये. वो चाहती हैं कि हमारी बातों में शेयर करें. . ."

". . . बट आई डिसलाइक. आई. . . आई हेट हर."

अजय ने घूमकर देखा संध्या खड़ी थी. चेहरा फक. पतझड़ के नंगे दरख्त जैसी आंखें, होठों पर पीड़ा के गूंगे शब्द. कुछ ही मिनटों में और अधिक बुढ़ा गयी थी संध्या.

"मैं तेरी मां थी बेटा. खैर, नहीं आऊंगी. तुम खुश रहो. . ." शब्द थे या आंसुओं में भीगा धुआं.

इंदु मां के आहत चेहरे को देखती रही. इंदु ने मां की जख्मी आंखों को भी देखा. इंदु मां के टूटे-थके पांव देखती रही जो दहलीज लांघ गये.

हजारों तिरस्कारों का बोझ उठाये संध्या लौट आयी. आज उसे अपने घर से डर लग रहा था.

इंदु के फोटो को देखती रही. आठ साल की इंदु हंसती हुई मोती जैसे दांत, चेहरे पर भोलापन.

"इंदो, तेरे घर से इस तरह बेइज्जत होकर आना पड़ेगा ऐसा कब सोचा था मैंने. अकेले जीना सीख लिया है री मैंने! . . . भाइयों की शरण में नहीं गयी तो क्या लड़की के घर डेरा डाल दूंगी. सच इंदो, तुझे बहुत प्यार करती थी. तू नहीं बोलती थी तब भी. सोचती थी तू है तो मेरे पास. तेरा अकेलापन भी मुझे अच्छा लगता था."

दीवारों का उखड़ा पलस्तर. मैले तकिये, पंखे पर मक्खियों के निशान.

फर्श पर नीम की जर्द पत्तियां और इन सबके बीच संध्या खांसती हुई, हांफती हुई. कभी-कभी तो अस्थमा का अटैक इतना प्रभावी होता कि यहां से वहां तक जाने के लिए दस बार सोचती. मन करता एक कप चाय हो. समस्या होती बनाये कौन? धीरे-धीरे वह टूट रही थी. मुरमुरा रही थी. लेकिन झुकना अब भी स्वीकार नहीं था.

मोहल्ले की औरतें हमदर्दी जताने आतीं तो झट कहती, "क्यूं आयी हो?. . . क्या हुआ है मुझे?. . . लड़की?. . . नहीं आती तो न आये. . . अपने घर खुश है. . . इस उम्र में क्या बीमार नहीं हो जाता आदमी?"

संध्या ने दो कमरे किराये पर उठा दिये थे. पति-पत्नी, इंदु और अजय जैसे. उम्र भी लगभग वही.

संध्या के मकान में आहटों से फर्श गुनगुनाने लगा था. सुबह की धूप ने दीवारों पर 'नमस्कार' लिखने शुरू कर दिये थे. मन के टीलों पर जमा मौन बिखरने लगा था. संध्या ने अपने जर्द होठों पर मुस्कान महसूस की थी. पीले पत्ते पर बसंत ने पतली लकीर खींच दी हो जैसे.

संध्या बार-बार आग्रह करती, "आज मैं खाना बनाऊंगी. . .मेरे इधर चाय पियो न. . . देखो, मटर-पुलाव कितना अच्छा बनाया है. . . बिंदो, वहां अकेली क्यों बैठी है यहां आ न. मेरे पास."

▣ ज्ञान प्रकाश विवेक
▣ जन्म : 1949—बहादुरगढ़ (हरियाणा)
▣ शिक्षा : एम. ए. हिंदी
ओरियंटल इंशोरेंस कंपनी, नई दिल्ली में नौकरी.
'प्यास की खुशबू'—उर्दू गजल संग्रह, 'धूप के हस्ताक्षर' गजल संग्रह, 'अलग-अलग दिशायें' (कहानी संग्रह) प्रकाशित.

बार-बार अपने कमरे से बाहर निकलकर देखती—वे सो गये या जाग रहे हैं.

एक दिन तो बरामदे में खड़े-खड़े, लड़के ने पत्नी को चूम लिया. पत्नी बड़ी मुश्किल से पति के आलिंगन से अलग हो पायी, "वो देख ले तो क्या सोचेगी?"

"सोचेगी क्या वो बुढ़िया, अपनी उमर में उसने भी. . ."

अपने कमरे में दरवाजे में छुपकर खड़ी संध्या सब देखती-सुनती रही थी. तब उसका चेहरा ऐसा भयानक हो गया था कि वह खुद को देखती तो डर जाती.

संध्या, बंद किवाड़ों की दरारों से झांकती रहती. वे क्या कर रहे हैं? कैसे सोये हैं? अलग या एक साथ?

बिंदो ने अचानक दरवाजा खोला तो संध्या सकपका गयी. खुद ही बोल पड़ी, "बेटी, मैं इधर अपनी चप्पलें देखने आयी थी."

अगली रात बिंदो ने अपने पति से कहा, "अभी तुम्हें एक तमाशा दिखाती हूं. उठो और झटपट किवाड़ खोलो."

संध्या खड़ी थी.

ऐसे कांप गयी मानो रंगे हाथों चोरी करते पकड़ी गयी हो. "मैं. . . मैं बस यूं ही. . . सोचा तुम लोगों के साथ. . . नहीं नहीं. ऐसी-वैसी कोई बात नहीं. जो तुम सोच रहे हो न. . . वो बात नहीं.' बदहवासी और हड़बड़ाहट के आलम में संध्या दौड़कर अपने कमरे में चली गयी.

अगले दिन उन लोगों ने मकान खाली कर दिया. रिक्शा पर सामान लद चुका था. वे जाने को थे कि हाथ में डिब्बा लिये संध्या भागी चली आयी.

"बेटी, ये साड़ियां तू ले ले. फॉन कलर की हैं. मेरी बेटी ने लेने से इनकार कर दिया था. पर तू. . ." आगे कोई शब्द न बोल पायी. आंसुओं ने रोक लगा दी.

पति-पत्नी, दोनों ने एक दूसरे को देखा, बिंदो बोली, "माताजी, किसी और को दे देना. मेरे पास साड़ियां बहुत हैं. . . चलो रिक्शावाले."

संध्या देर तक रिक्शा के निशान पर आंखें गड़ाए खड़ी रही.

दरवाजे खुले छोड़कर बरामदे में आ बैठी. आप ही आप बोलने लगी, "संध्या! तू किस-किस के पीछे भागेगी री. सबकी सब परछाइयां हैं. इंदु हो या अजय, भाई हों या बिंदो, सब साये थे. . . और तू बावली इनको पकड़ने के लिए भागती रही."

तह की हुई साड़ी को उसने गुच्छ-मुच्छ कर डाला. वह हंसने लगी, ठहाके लगाकर हंसने लगी. फिर अचानक बच्चों की भांति फूट-फूटकर रोने लगी. □

● 9 508, निकट सिविल अस्पताल,
बहादुरगढ़–124507

वर्ष 1984 की कहानियां

प्रेम जनमेजय

वर्तमान भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था ने ईमानदार आदमी को इतना अधिक आतंकित कर दिया है कि वह संघर्ष के स्थान पर अपने बचाव का रास्ता ढूंढता दिखायी देता है. न्याय और सदाचार पर टिकी उसकी आस्था अप्रासंगिक एवं व्यर्थ दिखायी देने लगी है. शोषण एवं भ्रष्टाचार का कसता हुआ शिकंजा व्यक्ति को अकेला कर रहा है, तथाकथित मनोरंजन के साधन उसे समाज से काटने का भयानक षड्यंत्र रच रहे हैं, और यही कारण है कि अन्याय और शोषण के विरुद्ध उसके मन में आतंक जन्म ले रहा है. इस आतंक को युवा कहानीकारों की कहानियों में **कन्हैयालाल नंदन** ने महसूस किया है. 'सारिका: सर्वभाषा कहानी प्रतियोगिता : 1983' की कहानियों पर टिप्पणी करते हुए वह लिखते हैं—'मुझे कहीं न कहीं ये सारी कहानियां प्रत्यक्ष या परोक्ष आतंकबोध की कहानियां लगीं. . . इन कहानियों को पढ़कर मेरे मन में युवा लेखन के प्रति और भी अधिक आस्था बढ़ गयी है. आतंक के बीच जीते रहने की जद्दोजहद अपने-आप में कम उपलब्धि नहीं मानी जा सकती.'

यह सही है कि आतंक को मात्र चित्रित करके रह जानेवाला 'यथातथ्यवादी रचनाकार' उस आतंक को बढ़ाता है. व्यक्ति की संघर्षमय चेतना को कुंद करता है. ऐसी रचनाएं आदमी की आस्था को तोड़ती हैं. परंतु हिंदी कहानी में किसी भी प्रकार के व्यवस्थाजनक आतंक को फैलाने की कोशिश बहुत कम है. अधिकांश कहानियां आदमी की संघर्षमयी चेतना को जागृत करती हैं.

बल्लभ **डोभाल** के कहानी संग्रह **'तन का देश मन का देश'** की कहानियों का मूल पात्र मध्यमवर्ग का सीधा-सादा इंसान है, जो पाता है कि व्यवस्था उसे आतंकित करके निरंतर बेईमान बना रही है. **'दफ्तर दीक्षा'** का ईमानदार कार्यकुशल और सहज नायक व्यवस्था द्वारा नकारा बना दिया जाता है. धीरे-धीरे उसके विरोध की शक्ति समाप्त हो जाती है और वह अंततः समझौतावादी हो जाता है. **'तन का देश मन का देश'** का 'वह' आतंकपूर्ण व्यवस्था में अपनी नींद खो बैठता है. अनेक चिंताओं दुश्चिंताओं में घिरा उसका मस्तिष्क पत्नी के साथ प्राकृतिक सहवास में अपनी समस्या का निदान ढूंढता है. व्यवस्था ने उसे इतना पंगु बना दिया है कि वह स्वयं

गत वर्ष प्रकाशित कहानी संग्रहों और विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों का एक लेखा-जोखा कि अंततः इनका साहित्यिक और सामाजिक योगदान क्या रहा. . .

को असहाय मानता है. **'खेड़ा गांव'** का 'मैं' हमारी अनेक सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों को उभारता है. हमारा देश प्रजातंत्र और समानता की व्यवस्था पर चलने का गर्वपूर्ण अभिनय करता है. सब समान होते हुए भी कुछ लोग बहुत बड़े हैं. इन 'बड़े लोगों' के आतंक ने व्यक्ति को बौना बना दिया है. समान व्यवस्था में राष्ट्रपति बनने की बात सोचना ही उसके मानसिक आतंक का कारण बन जाती है. लगता है. जैसे सब उसका उपहास कर रहे हैं! **'मकान रोग'**, **'समाजशोधन'**, **'एक और रास्ता'** कहानियां जीवन के छोटे-छोटे संदर्भों को उठाकर उन्हें एक व्यापक रूप दे देती हैं. इनमें व्यवस्था की विसंगतियां भी हैं. परंतु यह एक अशक्त और समझौतावादी व्यक्तित्व को सामने लाती हैं. ऐसे व्यक्तित्व पाठक को और भयभीत करते हैं.

रमेश **उपाध्याय** के कहानी संग्रह **'राष्ट्रीय राजमार्ग'** में व्यवस्था के बढ़ते आतंक और उसकी दमनकारी शक्तियों की उपस्थिति के कारण कहानी के शिल्प पर पड़ते हुए प्रभाव की चर्चा **ओमप्रकाश ग्रेवाल** ने भूमिका स्वरूप की है. **ओमप्रकाश ग्रेवाल** का कहना है कि शासन का दमनकारी रूप कहानी को सीधे कहने के बजाय रूपक के माध्यम में ले जाता है. ऐसे में लेखक भाषा और शिल्प का ऐसी दक्षता से प्रयोग करता है कि कथ्य शासन की आंख बचाकर पाठक तक संप्रेषित हो जाता है. **रमेश उपाध्याय** की कहानियों में रूपक, प्रतीकात्मकता आदि के माध्यम से कथा का संप्रेषित करने की प्रवृत्ति पड़ रही है. क्या वह व्यवस्था के किसी दमनकारी रूप का परिणाम है? **'राष्ट्रीय राजमार्ग'** और **'कामधेनु'** जैसी कहानियां रूपक और प्रतीक के शिल्प में बंधी हुई हैं. **'राष्ट्रीय राजमार्ग'** के रूपक के माध्यम से शासन के आतंकवादी रूप और उसके पूंजीवाद के साथ षड्यंत्रकारी समझौते को उद्घाटित किया गया है. परंतु रूपक संप्रेषण की तीक्ष्णता को कम करता है. कहानी की रोचकता का हनन करता है. **'शहर सुंदर है'** जैसी सहज और रोचक कहानी अंत में **रमेश उपाध्याय** के प्रतीक मोह का शिकार हो उठती है. इस तरह का शिल्प पाठक को कहानी से अलग करता है. इस संग्रह में **'प्रौढ़-पाठशाला'** जैसी कहानी भी है जो अप्रत्यक्ष कथन का शिकार नहीं हुई है. इसके पात्र गांव की सहज स्वाभाविक जिंदगी जीते हैं, वह किसी फार्मूले में बैठी हुई कठपुतली नहीं हैं.

नरेंद्र **कोहली** के कहानी संग्रह **'निचले फ्लैट में'** की कहानियां घरेलू किस्म की कहानियां हैं. लगभग सभी कहानियों का पारिवारिक माहौल एक जैसा है. ये कहानियां एक बहुत ही सीमित दायरे में घूमती हैं. मध्यवर्गीय परिवार की समस्याओं और विसंगतियों के कथ्य पर आधारित इन कहानियों का फलक बहुत छोटा है. इनमें राजनीति, मजदूर किस्म के आर्थिक शोषण का स्वर नहीं सुनायी देता है. **'चुभन'** जैसी कहानी परिवार की सीमाओं को तोड़कर एक धरातल पर विस्तृत होती है. इस कहानी की सोच बड़ी व्यापक है. **'पद-प्रतिष्ठा'** का माहौल भी घरेलू नहीं है. परंतु **'नालायक'**, **'पालतू कबूतर'**, **'निचले फ्लैट में'** कहानियों का माहौल मध्यवर्गीय परिवार है. इन कहानियों में एक सहजता है, पठनीयता है, परंतु कहानी सोचने के लिए विशेष रूप से बाध्य करती हो, ऐसी कहानियां इस संकलन में बहुत कम हैं.

रमेश **बतरा** के कहानी संकलन **'फाटक'** की सभी कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर चर्चित हो चुकी हैं. **रमेश बतरा** बड़े सहज धरातल पर अपने पात्रों को उतारते हैं. समाज के निम्न, निम्न-मध्यम और मध्यम वर्ग से जुड़े ये पात्र अपनी समस्याओं के साथ सांस लेते दिखायी देते हैं. **'फाटक'** और **'दूसरी मौत'** में समाज की ज्वलंत समस्याओं को उठाया गया है. **रमेश बतरा** के पास विसंगतियों को पकड़ने की तीक्ष्ण शक्ति है. वह पात्रों पर अपने विचारों को लादते नहीं हैं और न ही कहानी में से कोई निष्कर्ष निकालने का यत्न करते हैं. **रमेश बतरा** ने **'लड़ाई है'** में शिल्पगत प्रयोग करने का प्रयास किया है, परंतु यह प्रयोग कहानी के कथ्य पर हावी नहीं होता बल्कि वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियों का तथा आदमी की निरंतर संघर्षशील चेतना को उद्घाटित करता है. **रमेश बतरा** की **'कत्ल की रात'**, **'शहर की शराफत'** और 'दूसरी मौत' जैसी कहानियों

में गहरी संवेदना है, परंतु वह अतिरिक्त भावुकता का शिकार नहीं हुई हैं. **रमेश बतरा** सतही धरातल पर किसी समस्या से चिपक कर नहीं रह जाते हैं, परंतु षड्यंत्र के पीछे कौन है, उसे उद्घाटित करने का प्रयत्न करते हैं. वह पाठक को समस्या के साथ पूरी तरह से जोड़ते हैं और अंत में उसके सामने प्रश्न रखकर अलग हो जाते हैं. **रमेश बतरा** की कहानियों के नारी पात्र जीवन और संघर्ष के चेतनात्मक साहस से भरे हुए हैं. **रमेश बतरा** कई बार अपनी कहानी को अतिरिक्त व्याख्या का शिकार बना देते हैं. जो 'वस्तु' पाठक को अपने तईं स्पष्ट करनी चाहिए **'शहर की शराफत'** जैसी कहानियों में उसकी व्याख्या कर बैठते हैं.

अब्दुल **बिस्मिल्लाह** ने अपनी कहानियों के अलग माहौल के कारण कहानियों का अलग चरित्र बना लिया है. **'कितने-कितने सवाल'** में संकलित उनकी कहानियां समाज के अनेक पक्षों से संबंधित सवाल उठाती हैं. **अब्दुल बिस्मिल्लाह** की अनेक कहानियों में मुझे एक विशेषता मिली कि वह एक सीमित माहौल में आरंभ होती है. परंतु अंत तक आते-आते उनका फलक व्यापक हो जाता है. कहानी के आरंभ में लगता है कि एक पारिवारिक समस्या अपने लघु-धरातल पर हमारे समक्ष आ रही है, परंतु कहानी के अंत में यह अन्य सामाजिक संदर्भों के साथ जुड़ जाती है. **'मुरीद'** कहानी, 'मैं' और उसके 'दादाजी' को लेकर आरंभ होती है. कहानी काफी देर तक 'मैं' और 'दादा' के व्यक्तिगत संबंधों में विचरण करती है, परंतु अंत में मुस्लिम धर्म में धार्मिक शोषण का पर्दाफाश कर देती है. गंदे नोट हाथ में देखकर पीर साहब का जल्दी से हाथ खींचकर दूसरी ओर बढ़ा देना, बहुत बड़ा प्रहार करता है. इसी प्रकार **'तलाक के बाद'** साबिरा के परिवार में घूमती हुई कहानी है. परंतु अंत में तलाक जैसे व्यापक धार्मिक और सामाजिक कार्य पर प्रश्नचिन्ह लगाती है. **'फिर उसी तरह'** कहानी बच्चों के मनोविज्ञान और बड़ों की चारित्रिक विसंगतियों को उजागर करती है. फिलहाल **अब्दुल बिस्मिल्लाह** की कहानियों का क्षेत्र अधिकांशतः परिवार है, इसे और व्यापक बनाने की आवश्यकता है.

•

प्रदीप **पंत** ने अपने कहानी संग्रह **'कुत्ते की मौत में'** निरंतर व्यक्तिवादी एवं स्वार्थी होते जा रहे शहरी आदमी को चित्रित किया है. **प्रदीप पंत** यथार्थ के धरातल पर कहानी लिखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं. यही कारण है कि वह प्रेम की सफलता या असफलता को ही चित्रित नहीं करते अपितु उसमें जीवन का यथार्थ ढूंढते हैं. प्रदीप पंत के पात्रों का क्षेत्र बहुत व्यापक है. प्रदीप पंत बच्चों और नारियों के मनोविज्ञान को पकड़ने में सक्षम दिखायी देते हैं. **'एक कुत्ते की मौत'**, **अनुत्तरित सच'**, **'अभिनेता'** **'कहानीकार'** अच्छी कहानियां हैं.

मत्स्येंद्र **शुक्ल** का कहानी संग्रह **'जनमत तथा अन्य कहानियां'** गांव की भरपूर याद दिला देता है. मत्स्येंद्र के पात्र गांव के जीते-जागते पात्र लगते हैं, जो हमारी तरह ही समस्याओं से ग्रसित हैं. गांव की समस्याएं अलग हैं. परंतु अब भी लगता है जैसे इतने बड़े बदलाव के बाद भी गांव वही है जो स्वर्गीय प्रेमचंद की रचनाओं में आता है. मत्स्येंद्र गांव के लोगों के दर्द को जानते हैं.

"यह माहौल व्यक्ति को कायर बना रहा है और इसका कारण है व्यक्ति का व्यक्तिवादी होना. परंतु आशा की जानी चाहिए कि कहानीकारों की सोच पाठक को इस आतंक से संघर्ष करने की चेतना देगी"

'विश्वास', **'खामोश'** **'एक और आदमी'** जैसी अनेक कहानियां प्रभावित करती हैं.

आम आदमी और गांव से जुड़ी हुई कहानियों का एक संकलन **विवेकी राय** का भी है. **'नयी कोयल'** में कहानी के नाम पर रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र आदि अधिक हैं. कहानियां पाठक को चमत्कृत नहीं करतीं, अपितु, सहज गति के साथ आगे ले जाती हैं. **'मरछिया'**, **'रावण'**, **'सामल गमला'** जैसी कुछ कहानियां इनमें हैं. परंतु इनमें ग्रामीण समस्याओं की गंभीरता नहीं, एक प्रकार का लालित्य है.

नरेंद्र **मौर्य** के पास विषयों की विविधता है. वह बड़े सहज ढंग से अपनी गंभीरता पाठकों तक संप्रेषित कर जाते हैं. **'संस्थान'** की कहानियां मध्यमवर्ग जीवन तक सीमित नहीं रही हैं, और न ही जमींदार के अत्याचार° में केंद्रित हो गयी हैं. ये नये समाज की अनेक विसंगतियों को अभिव्यक्ति देती हैं. **'बाल-बच्चेवाले लोग'**, **'विस्फोट'**, **'पद, पदोन्नति और प्राध्यापक'** जैसी कहानियां पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं.

पत्र-पत्रिकाओं में इस वर्ष भी कहानी छायी रही है. यह सही है कि हिंदी साहित्य में अच्छी कहानी पत्रिकाओं की कमी है. कहानी के कथ्य और शिल्प को लेकर निरंतर आलोचनात्मक बहस के लिए कोई कहानी पत्रिका नहीं है. लघु पत्रिकाओं में जो थी, वह धीरे-धीरे दम तोड़ रही है, या तोड़ चुकी है. वर्ष 1984 में **'कथन'** के बंद होने से कहानी पर बातचीत करनेवाली एक और पत्रिका साहित्य पटल से गायब हो गयी. इसका अभिप्राय यह नहीं कि पाठक की कहानी से रुचि गायब होती जा रही है.

'शिखर' ने कथा आलोचना के संदर्भ में चिंता प्रकट करते हुए अनेक सवाल उठाये हैं. अनेक कहानीकारों के साक्षात्कार प्रस्तुत किये हैं. **'संचेतना'** ने कहानी पुस्तकों की समीक्षा के माध्यम से कहानी के मूड को रेखांकित किया है. **'सारिका'** ने **'पीढ़ियां: आमने-सामने'** के माध्यम से बहस के अनेक मुद्दे कहानी के जिज्ञासुओं के समक्ष रखे हैं.

सारिका के **'पुरस्कार विशेषांक'** (जून, 1984) में **गौतम सान्याल** की कहानी **'तुम्हारे बाद सौमित्र दा'** बहुत कुछ सोचने को बाध्य करती है. यह कहानी **'इतिकथा अथकथा'** की तरह अधूरे ऐलिगरी शिल्प की मूल-भुलैया में पाठक को चमत्कृत नहीं करती. अपितु उसके चिंतन का विषय बनती है. 'शोषक और शोषण के विरुद्ध—दोनों के लिए प्रतिभा और साहस चाहिए' जैसे सीधे-साधे वाक्य पाठक को शिथिल भी करते हैं. शिल्प के मोह में पाठक को चमत्कृत करने के प्रयास में अनेक बार कहानीकार अपनी जमीन छोड़ बैठता है. इसका शिकार हुई है **सारिका** में प्रकाशित **रमेश उपाध्याय** की **'किसी देश के किसी शहर में'** शृंखला की कहानियां. एक कहानी जहां अपने शिल्प की नवीनता के कारण पाठक को चमत्कृत करती है. वहां जब पाठक दूसरी और तीसरी कहानी पढ़ता है तो यांत्रिक और फार्मूलाबद्ध स्थितियां उसे उबाने लगती हैं. **मैं रमेश उपाध्याय** की सोच पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगा रहा हूं. परंतु मेरा विचार है कि 'प्रयोग' के लिए लिखी गयी ये कहानियां कथ्य के धरातल पर कोई नवीनता या **मौलिकता** को सामने नहीं लातीं.

'उत्तरगाथा' में प्रकाशित रमाकांत ने **'सुखदेवा की नौकरी'** के अंत में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है. लेखक किस्सागो का रूप छोड़कर प्रश्नवाचक की मुद्रा में आ जाता है. कहानी का यह अंत पाठक को सोच के धरातल पर कहानीकार से सीधे जोड़ता है. **'सुखदेवा की नौकरी'** निम्न मध्यवर्ग के ईमानदार आदमी को तोड़ती भ्रष्ट व्यवस्था की साजिश की कथा है. बेरोजगारी इतनी बढ़ गयी है कि रुचि और क्षमता के आधार पर काम करने का अधिकार गरीब लोगों के पास नहीं रह गया है. सुखदेव कारपोरेशन में नौकरी करता है. और उसकी मां ने उसे अनेक कष्ट सहकर यहां तक पहुंचाया है. उसकी मां सुखदेव की

नौकरी के प्रति आश्वस्त नहीं है, कभी भी छिन सकती है. इसलिए वह छावड़ी लगाती है. परंतु अंत में व्यवस्था सुखदेवा को तोड़कर अपने ही खून के खिलाफ खड़ा कर देती है. रमाकांत कहानी के अंत में पाठकों के समक्ष दो अंत लेकर उपस्थित होते हैं. ऐसे में वह पाठक से सीधे बात करते हैं. और उसकी सोच को आंदोलित करते हैं. 'उत्तरगाथा' में ही प्रकाशित **नमिता सिंह** की **'दर्द'** सुन्नरी के दर्द की कहानी है, जिसे वह पहले पारिवारिक और फिर सामाजिक धरातल पर भोगती है. दर्दभरे बचपन के बाद नामर्द पति के घर में पीड़ादायक यौवन को झेलती है, परंतु किसी प्रकार का समझौता नहीं करती है. निरंतर संघर्ष करने की ताकत उसने संजो रखी है.

सुरेंद्र मंथन की संचेतना में प्रकाशित कहानी **'आतंक'** का फलक व्यापक होते-होते सीमित हो गया है. इस कहानी में व्यवस्थाजनित आतंकपूर्ण माहौल की चर्चा है. परंतु कहानी नायक की व्यक्तिगत परेशानियों में उलझकर रह गयी है. लेखक ने व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने के खतरों और व्यवस्था के षड्यंत्रों को उभारने का यत्न किया है. परंतु स्वयं उलझकर रह गया है.

संचेतना में ही प्रकाशित **संजय खाती** की कहानी **'पोस्टर के पीछे आदमी'** शहर में व्याप्त आतंक को बखूबी बताती है. शहर का यह आतंक राजनीति के कारण जन्मा है. इस आतंकपूर्ण व्यवस्था को देखकर वीरप्पा को गांव की याद आ जाती है. वह स्वार्थ और झूठ में लिप्त, व्यक्तिवादी शहर से भागना चाहता है. एक पलायन उसके मन में उठता है. परंतु शहर उसे जाने नहीं देता, उसकी हत्या कर देता है. इस हत्या का उत्तरदायित्व किस पर है?

अमरकांत ने कुछ ऐसा ही प्रश्न देश के संदर्भ में व्यापक रूप से उठाया है. सारिका में प्रकाशित 'दर्पण' कहानी प्रजातांत्रिक व्यवस्था के नाम पर हो रहे शोषण का पर्दाफाश करती है. भारतीजी जनसेवक हैं—परंतु किस तरह के?. . .राजा समान सेवक हैं और उनकी सेवा का लाभ कौन-से जन उठा सकते हैं. इस बात को यह कहानी बहुत साफ कर देती है. जो भारतीजी की कुर्सी बचाये रखने में मदद देता है, वह प्राइमरी पास होकर भी बहुत योग्य है. परंतु जो सहयोग नहीं देता है, पढ़ता है, नौकरी के लिए भागदौड़ करता है. वह बी. ए. होकर भी कुछ नहीं है. **अमरकांत** ने कहानी में वर्तमान राजनीतिक विसंगतियो का सशक्तता के साथ चित्रण किया है. पदयात्रा के नाम पर जनसेवा और जनसंपर्क जैसे विज्ञापनयुक्त दिखावे पर लेखक ने समुचित प्रहार किया है. कहानी के अंत तक आते-आते कहानीकार का स्वर अत्यधिक व्यंग्यात्मक हो गया है. अन्याय का दर्द कहानी के चेहरे से स्पष्टतः झांकता है.

धर्मयुग में प्रकाशित **चित्रा मुद्गल** की **'दौड़'** अंकिता की सनातन दौड़ और उस दौड़ में छले जाने की मार्मिक कथा है. अंकिता का दर्द **चित्रा मुद्गल** की अनेक कथा-नायिकाओं का दर्द है. इस कहानी में वह दर्द कभी एकदम लिये गये तलाक के माध्यम से उठता है और कभी समाज की ओर से उठती हुई बेहूदी उंगली के माध्यम से. औरत को तराशी देह मात्र समझनेवाला सुधांशु जैसे लगता है अंकिता के योग्य ही नहीं था. परंतु अंकिता के इस दर्द और उसकी दौड़ की किसे चिंता है. उसके साथ जो भी जुड़ा है, किसी स्वार्थ के कारण ही जुड़ा हुआ है. **चित्रा मुद्गल** की अन्य कहानियों की तरह इस लंबी कहानी की नायिका निरंतर एक तनाव झेलती है और उस तनाव से जूझने की ताकत उसमें अंत तक दिखायी देती है.

बहुत दिनों बाद **पाल मसीन** की एक अच्छी कहानी **'शिकार'** में देखने को मिली. **'चार अंकों का शून्य'** में **पाल मसीन** का तेवर शुरू से लेकर व्यंग्यात्मक है. सामायिक मध्यवर्ग की आकांक्षाओं-महत्वाकांक्षाओं और उन सबको पाने के लिए किये जा रहे हास्यास्पद प्रयत्न **पाल मसीन** के व्यंग्य का शिकार बने हैं.

कहानी में वर्णित जिंदगी बहुत जानी-पहचानी लगती है. एक प्रवाह में बंधा पाठक इसे अपनी कहानी समझकर पढ़ता चला जाता है.

राजनीतिक व्यवस्था में धर्म किस तरह हावी हो गया है और इस कारण जो विसंगतियां पैदा हो रही हैं, उन्हें **स्वदेश दीपक** ने 'रविवार' में प्रकाशित लंबी कहानी **'बाल भगवान'** में सशक्त रूप से अभिव्यक्त किया है.

अपने लक्ष्य की ओर चलती हुई यह कहानी कहीं भटकती नहीं है. राजनीति में सत्ता की आपाधापी भ्रष्टाचार की चरमसीमा और राजनीति को व्यापार बनाने की प्रवृत्ति ने राजनीतिज्ञों को घोर स्वार्थ से भर दिया है. यह स्वार्थ उन्हें व्यक्तिवादी बनाता है, और व्यक्तिवाद का अकेलापन उनमें भय का संचार करता है.

इस प्रकार का भय अंततः अंधविश्वास को जन्म देता है. जिसका लाभ 'बालभगवान' जैसी कई महान आत्माएं उठाती हैं.

सुरेश सेठ की **'धर्मयुग'** में प्रकाशित कहानी **'रात भर'** अनेक सामयिक आतंकपूर्ण घटनाओं को जिंदा कर देती है. लगता है जिस माहौल में हम रह रहे हैं वहां कभी भी डर के कारण धड़कन बंद हो सकती है. रेशमा की तलाश में निकला नायक एक कायर शहर में रातभर न्याय की तलाश करता रहता है. रेशमा आतंकभरे शहर में ईमानदार, शांतिप्रिय नागरिक का प्रतीक है जो अंत तक तलाश करने पर भी नहीं मिल पाती है. कहानी के शब्द चित्र आतंकभरे माहौल को पाठक के सामने साक्षात कर देते हैं.

'पहल' ने प्रवासी भारतीयो की कहानियों को प्रकाशित करने का प्रशंसनीय कार्य किया है. प्रवासी भारतीय लेखक जो यहां के माहौल से कट चुके हैं, वहां के माहौल में क्या और कैसा सोचते हैं, यह जिज्ञासा का विषय हो सकता है. इसके लिए 'पहल' में प्रकाशित **विजय चौहान** की **'कालचक्र'** और **उमेश अग्निहोत्री** की **'शादी की सालगिरह'** विचारणीय हैं.

'मधुमती' में **'पहल'** कहानी के माध्यम से **सुनील कौशिक** पाठकों को एक ऐसी बस्ती में ले गये हैं, जहां आम आदमी रहते हैं. परंतु आदमी वहां घुसने से डरता है. जरायमपेशा लोगों के विरुद्ध **सुनील** ने घृणा व्यक्त नहीं की है; अपितु यह जानने की कोशिश कि है कि ये लोग ऐसा क्यों करते हैं? **'गगनांचल'** में प्रकाशित **के. रा. शास्त्री** की कहानी **'मृगजल'** प्रभावित नहीं कर पाती. यह कहानी रचनाकार की प्रतिष्ठा के अनुकूल भी नहीं लगती है.

इसके अतिरिक्त वर्ष 1984 में **ओम प्रकाश निर्मल** की **'बड़े लोग' '(मधुमाधवी)' हेतु भारद्वाज** की **'सुरक्षित' (मधुमति)', मालचंद तिवाड़ी** की **'कसमस'** (हिम संस्कृति), **राजेंद्र कुमार मिश्र** की 'पालंडी', **मार्कंडेय सिंह** की **'खूंटी पर टंगी जिंदगी'** (**अक्षरा**)', **रमेश गुप्त** की **'मुखौटे'** (आजकल), **हरिहर वैष्णव** की 'गुनाहो', **नासिरा शर्मा** की 'पहूचो सारग[illegible]न(शिखर)', **विवेक निझावन** की 'एक टुकड़ा जिंदगी', **मृणाल पांडे** की 'परियों का [illegible] ऐसा' (**धर्मयुग**)' **उदयभानु पांडेय** की 'तलबंती (**धर्मयुग**)', **विनीता अग्रवाल** की **'अपने पैरों पर'** (साप्ताहिक हिंदुस्तान)' **सुनील आशु** की 'और अंत में' (सारिका)', **सिद्धेश** की **'बोझ** (साप्ताहिक हिंदुस्तान)' आदि को सशक्त **कहानियों** के रूप में रेखांकित किया जा सकता है.

सही है कि राजनीतिक विसंगतियों, में आर्थिक शोषण के साथ-साथ **एक तरह का आतंक हमारे माहौल में आता जा रहा है. यह माहौल व्यक्ति को कायर बना रहा है और इसका कारण है व्यक्ति का व्यक्तित्ववादी होना. परंतु आशा की जा सकती है कि कहानीकारों की सोच पाठक को इस आतंक से संघर्ष करने की चेतना देगी. पिछले वर्ष कहानी विशेषांक न के बराबर रहे, आशा की जा सकती है कि वर्ष 1985 में यह अभाव दूर हो जायेगा.** □

कहानियां अब भी लिखी जा रही हैं...

. . . और एक नजर वर्ष १९८४ के अंतिम दौर में आये कहानी संग्रहों पर भी. . .

सातवें दशक के बाद की हिंदी कहानी पर चर्चा करते हुए अक्सर यह कहा जाता है कि यह दौर दिशाहीनता और आपाधापी का रहा है. आलोचकों ने ही नहीं रचनाकारों ने भी इस ओर इशारा करते हुए कहा कि इस दौर में आयी कहानियां एकदम सपाट हो गयीं या फिर उनमें फूहड़ता झलकती है. . . मजेदार बात तो यह है कि इस स्थिति के लिए जहां एक तरफ आलोचकों को दोषी करार दिया जाता है वहीं दूसरी तरफ रचनाकारों द्वारा स्वयं भी छिछले स्तर की कथालोचना का दौर शुरू किया गया. 'एक दूसरे की वाह-वाह' की तर्ज पर यह कथालोचना साहित्य को क्या कुछ दे पायेगी, यह तो समय ही बता सकेगा. . . किंतु इसी बीच रेगिस्तान में किसी उपजाऊ प्रदेश की तरह सुख देने वाली चंद बेहतर कहानियां भी आयी हैं. इन कहानियों के लेखक बहुत पहले के भी हैं और एकदम नये भी. एक साथ इन सबकी चर्चा करने की वजह बस यही है कि ये सभी कहानी संग्रह चर्चित वर्ष में प्रकाशित हुए हैं.

श्रीकांत वर्मा का कहानी-संग्रह **'दूसरे के पैर'** पढ़ते हुए बराबर उन्हीं की भूमिका-याद आती रही जिसके अनुसार कोई रचनाकार कविता लिखते-लिखते कहानियां लिखने लगे या कहानियां लिखते-लिखते कविता . . .कुछ खास फर्क नहीं पड़ता. एक युग विशेष का अनुभव समस्त कलाकारों के लिए एक जैसा होता है. भले ही कोई रचनाकार किसी एक विधा में काम करते हुए अपने में संपूर्णता का अनुभव न कर सके. विधांतर की दृष्टि से ये कहानियां शायद इसीलिए उनकी कविता के जगत का विस्तार बन जाती हैं.

इन कहानियों में भाषा की एक अहम् भूमिका है जो एक विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि करती है. बेलौसी के साथ यह भाषा निर्द्वंद्व भाव से कहीं भी पहुंच सकती है. इन कहानियों में सायास [illegible] भी घटित नहीं होता. . . निहायत असचेत किस्म की सहजता लिये ये कहानियां खुद को पढ़वा लेती हैं. जो लोग भाषा को ठोक-पीटकर इस्तेमाल करने पर जोर देते हैं, उन्हें भाषिक संस्कारों को तोड़ती और एक खास रचनात्मकता की सृष्टि करती इन कहानियों की भाषा पर नजर डालनी चाहिए. **'कबूतरा'**, **'चाकलेट'**, **'उसका कासु'** और **'सोचनेवाली नजर'** जैसी कहानियां अपने अतिरिक्त प्रभाव की वजह से उल्लेखनीय कही जा सकती हैं.

'हिमांशु जोशी की कहानियां' पढ़ते वक्त लगता है जैसे आजादी के बाद के भारत में एक संवेदनशील नजर से तमाम चीजों को देखने-परखने की कोशिश की जा रही है. **'अपने ही कस्बे में'**, **'जलते हुए 'डैने'**, **'हत्यारे'** जैसी कहानियां हिमांशु के सहज कथाकार को हमारे सामने रखती हैं. बदलते हुए पहाड़ों का स्वरूप हो या भ्रष्ट राजनीतिकों का क्लोज-अप, 'जलते हुए डैने' के शिवदा की जिंदगी का त्रासद उत्तरार्ध हो या अंधे समाज की अंधी मान्यताओं में खोये आम-आदमी की बेमतलब जिंदगी. . . ये कहानियां देर तक अपना प्रभाव बनाये रखने की ताब लिये हैं.

हंसराज रहबर का पांचवा कहानी संग्रह **'वर्षगांठ'** भी खासा आकर्षण लिए है. इस संग्रह की खास बात यह है कि इसमें पांचवें, छठे और सातवें दशक में लिखी गयी रहबर साहब की चुनिंदा कहानियां हैं. निहायत सादगी भरे अंदाज में बगैर किसी लाग-लपेट के इन कहानियों में **'लाकेट'**, **'वर्षगांठ'**, **'कबीर की बानी'**, **'पंजाब की बेटी'** और **'नन्हे हाथ'** जैसी कहानियां रहबर के कथा-लेखन के प्रति आस्था पैदा करती हैं.

निम्न वर्ग के चरित्र पर आधारित कहानियों के जरिये रामलाल ने कहानी जगत में अपनी एक खास जगह तैयार की है. **'इंतजार के कैदी'** की अधिकांश कहानियों के ये पात्र अपने में और अधिक विश्वास संजोये आगे बढ़ते नजर आते हैं. **'एक और दिन को प्रणाम'**, **'मुखौटों वाली दुकान'** और **'उसका भविष्य'** संग्रह की महत्वपूर्ण रचनाएं हैं.

गोविंद मिश्र के कहानी संग्रह **'खाक इतिहास'** को पढ़ते हुए लगता है जैसे कहानी घटित हो रही है. कहानीकार महज एक नैरेटर नहीं, वह पात्रों के विचारों और संवेदनाओं को जीता है. . .यही वजह है कि किसी व्याख्या विशेष की जरूरत कहानीकार को महसूस नहीं होती. कथ्य के अनुरूप गोविंद मिश्र ऐसी भाषा रचते हैं जो गढ़ी हुई नहीं कही जा सकती. नदी के बहाव की-सी सहज है इन कहानियों की भाषा. **'संध्यानाद'**, **'मुझे घर ले चलो,'** **'आने वाली सुबह'** और **'खाक इतिहास'** पढ़कर लगता है कि जीवन की विविधता को पकड़ने के लिए हमारी दृष्टि भी तेज और पैनी होनी चाहिए. मानवीय संवेदना को गहराई से रेखांकित करने की दृष्टि से इन कहानियों को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए.

'वापसी' जैसी चर्चित कहानी के कथाकार **हरिप्रकाश** का संग्रह **'वापसी और मेरा दोस्त'** काफी पहले लिखी कहानियां समेटे है. कथ्य, भाषा और शिल्प का ऐसा अनूठा समन्वय इन कहानियों में है जो परिवार के भीतरी द्वंद्व, पीढ़ियों के अंतराल और घुटन भरे मध्यवर्गीय माहौल में रोजमर्रा की जिंदगी को बेहद ईमानदारी से प्रस्तुत करता है. इन कहानियों को पढ़ते वक्त पाठक की अपनी अनुभव-चेतना का विस्तार भी होता जाता है. वर्षों पहले लिखी ये कहानियां अब भी अप्रासंगिक नहीं हुई हैं; यह एक चौंकानेवाली बात है. . . जो कहीं यह सोचने पर मजबूर करती है कि परिवर्तन की प्रक्रिया हमारे समाज में कितनी धीमी है.

यूं तो **मोहन राकेश** छठे दशक के शीर्षस्थ कथाकारों में रहे हैं. . . किंतु इधर उनकी संपूर्ण कहानियों का संग्रह—**'मोहन राकेश की संपूर्ण कहानियां'** प्रकाशित हुआ है. **'मलबे का मालिक'**, **'परमात्मा का कुत्ता'**, **'जानवर और जानवर'** जैसी तमाम कहानियां मोहन राकेश की स्मृति बनाए रखने में समर्थ हैं. इस संग्रह की विशेषता यह भी है कि इसके जरिए हम छठे दशक की मुख्य कथाधारा और मोहन राकेश के कथा-जगत को एक साथ देख-परख सकते हैं.

इस वर्ष के चर्चित और उल्लेखनीय कहानी संग्रहों में **'मुहिम'** (धीरेंद्र अस्थाना), **'आप यहां हैं.'** (**संजीव**), **'क-ख-ग'** (रंजन जैदी) और **'शब्द दंश'** (**मुद्राराक्षस**) भी महत्वपूर्ण हैं. **मुद्राराक्षस** का संग्रह कहानी जगत में उस रीतेपन को भरने की सामर्थ्य रखता है जो अनुभवहीनता और कच्चेपन से भरे लेखन की वजह से पैदा हुआ था.

कृत्रिम आवेश के घेरे से बाहर रहकर जहां **धीरेंद्र अस्थाना** अपनी कहानी में अधिक मेच्योर होने का प्रमाण देते हैं, वहीं **संजीव** जीवन के विविध अनुभव-खंडों को लेकर दमदार तरीके से सामने आये हैं. **रंजन जैदी** की कहानियां समाज की सच्चाई को गहराई से आंकती नजर आती हैं. . . इन तीनों कथाकारों की कहानियों में यह विश्वास भी मिलता है कि युवा पीढ़ी अपने समय को बेहतर बना सकने में समर्थ है.

बहरहाल, यह कहा जा सकता है कि यह वर्ष कहानियों की दृष्टि से निराशाजनक नहीं रहा. कहानियां अब भी लिखी जा रही हैं. . . भले ही मात्रा में कम क्यों न हों. □

वर्ष 1984 के उपन्यास

रमाकांत

आज उपन्यास विश्व साहित्य की केंद्रीय विधा के रूप में प्रतिष्ठित है तो इसी लिए कि वह अपने देश समाज से लेकर विश्व के व्यापकतम परिवेश को समेट सकने और जीवन की अंतरंगतम अनुभूतियों को व्यक्त करने का सब से सबल माध्यम है, और जैसा कि कभी राल्फ फॉक्स ने कहा था, यह पूंजीवादी युग का ही नहीं, हमारे पूरे आधुनिक युग का महाकाव्य बन चुका है. कविता, कहानी या नाटक के मुकाबले साहित्य की इस नवीनतम विधा में विषय तथा रचनाशिल्प संबंधी अपरिमित संभावनाएं हैं, लेकिन अपनी इस ऊंचाई तक वह शिल्प के स्थूल प्रयोगों के कारण नहीं बल्कि अपनी कथात्मक गहनता, विन्यास और व्यापकता तथा उसके पात्रों द्वारा निर्मित अथवा उद्घाटित संसार की उदारता के साथ कथ्य की नवीनता और रचनात्मक समृद्धि के कारण पहुंच पाया है.

जाहिर है, उपन्यास-लेखन की ये बहुत बड़ी शर्तें हैं, लेकिन किसी भी भाषा के उपन्यास का महत्त्व निर्धारण इन शर्तों के प्रति रचनाकार की सजगता के द्वारा ही होगा. पात्र विहीन और कथा विहीन उपन्यास भी लिखे गये हैं, लेकिन समय-समय पर साहित्य के द्रोणाचार्यों द्वारा उछाली गयी अमूर्त किस्म की अपठनीय रचनाएं साहित्य के एक सवर्ण कुलीन तंत्र की धरोहर भले ही हों, उपन्यास साहित्य का मील-चिन्ह नहीं बन पायीं. उपन्यास की संरचना में कमाल करने के नाम पर चंद चुलबुली किस्म की रचनाओं को भी चर्चित प्रचारित किया गया, लेकिन वे प्रवृत्तिनिर्धारक नहीं बन सकीं और उपन्यास बार-बार अपने मान्य आधारों पर खड़ा होता रहा है. कविता के विपरीत कथा साहित्य में अपने आप को नकली से अलगाने की अद्भुत क्षमता है. यहां किसी धोखाधड़ी का, वह कितनी ही फैशनेबल हो, कोई भविष्य नहीं है. कथा उपन्यास की एक जरूरी शर्त बनी रहेगी.

किसी एक वर्ष के उपन्यास को इस प्रक्रिया से अलग-थलग कर नहीं देखा जा सकता. संदर्भित वर्ष में जो रचनाएं आयी हैं वे कहीं आशाएं जगाती हैं तो कहीं आशंकाएं भी उत्पन्न करती हैं. इस वर्ष जिन प्रमुख लेखकों की रचनाएं आयी हैं उनमें उषा प्रियंवदा, गिरिराज किशोर, शैलेश मटियानी, शिवानी, नासिरा शर्मा, मधुकर गंगाधर और धर्मेंद्र गुप्त के अतिरिक्त मंजीत, चंद्रकांता, रवींद्र वर्मा, बटरोही, अब्दुल बिस्मिल्लाह तथा योगेश कुमार, विष्णुचंद्र शर्मा, महाराज कृष्ण काव,

---

उपन्यास, साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा होने के बावजूद उपभोक्ता माल की तरह तैयार नहीं किए जाते बल्कि अपने समय और परिवेश पर गंभीर चिंतन दृष्टि के माध्यम के रूप में लिखे जाते हैं. . आइए देखें कि वर्ष 1984 हिंदी उपन्यासों की दृष्टि से कैसा रहा?

सुरेंद्र मनन आदि की रचनाएं शामिल हैं.

इस दृष्टि से यह वर्ष निराश नहीं करता. कम से कम इस वर्ष ऐसी दो या तीन कृतियों के नाम लिये जा सकते हैं—उदाहरण के लिए **गिरिराज किशोर** का उपन्यास **परिशिष्ट**, **नासिरा शर्मा** का उपन्यास **सात नदियां एक समुंदर** और **शैलेश मटियानी** का **मुठभेड़**... जो साहित्य की स्थायी निधियों के रूप में याद की जायेंगी. इनमें से एक में एक अहम् सामयिक राष्ट्रीय समस्या—अनुसूचितों की समस्या और दूसरे शब्दों में एक ज्वलंत अंतर्राष्ट्रीय समस्या—खुमेनी की क्रांति के बाद आज खून की नदियों में डूबता ईरान. . . को छुआ गया है. पर कोई उपन्यास उठाई जाने वाली समस्याओं के कारण नहीं, बल्कि अपनी रचनात्मक ऊर्जा, कथन की गहनता, रचनाशिल्प, अनुभूतिपूर्ण अंतरंग विवरण और रचनात्मक दृष्टि की उदात्तता के कारण महत्त्वपूर्ण होता है.

परिशिष्ट में अनुकूल राम बल्द बावनराम पिता की महत्वाकांक्षाओं और कोशिशों के फलस्वरूप इंजीनियर बनने के सपने के साथ आई. टी. आई. जैसी संस्था में प्रवेश पा लेता है किंतु वहां उस मानसिकता का दंड और द्वंद्व दोनों ही झेलता है जो अनुसूचित होने के कारण किसी में भी पैदा हो सकती है. वह झेलता है पर टूटता नहीं और संकल्प के साथ उस स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्नशील होता है जो हीनता की ग्रंथि पैदा करती है, वहीं उसी वर्ग का दूसरा छात्र रामउजागर जिसकी प्रेमिका नीलम्मा उसका 'रहस्य' जानने के बाद छोड़ जाती है, अधिक संवेदनशील होने के कारण सवर्ण समाज के शिष्ट, अशिष्ट आचरण झेल नहीं पाता और आत्महत्या कर लेता है. उसकी जांच कर कानूनी खानापूरी तो होती है लेकिन कोढ़ ज्यों का त्यों बना रहता है और उजागर की नियति की दहशत भी बनी रहती है. कथा को लेखक अनुभव और तथ्यांकन के जिन राजमार्गों और वीथिकाओं से गुजारता है, वह उसकी इस दार्शनिक उक्ति के बिना भी कि 'अनुसूचित जाति नहीं मानसिकता है', इसे एक महत्वपूर्ण उपन्यास बनाने में सक्षम है. निश्चित ही यह इधर के उपन्यास साहित्य में एक मीलचिन्ह है, पर पता नहीं, उन सामाजिक-आर्थिक कारणों का कोई संकेत क्यों नहीं है जो इस समस्या को पैदा करने और बना रहने देते हैं.

एक दूसरी उपलब्धि एक भिन्न विषय पर इसी पाये का उपन्यास **नासिरा शर्मा** का **सात नदियां : एक समुंदर** है जिसकी कथाभूमि खुमैनी के शासन का जलता, उबलता ईरान है. एक राजनीतिक उक्ति है कि क्रांतियां भटक जाने के बाद अपने ही बेटों को खाने लगती हैं. आज ईरान में यही हो रहा है. यह उपन्यास इसी का एक दहशतअंगेज दस्तावेज है. उपन्यास में धर्मांध शासन के अत्याचार का आतंक है, ईरान-इराक युद्ध की खूंरेजी है, राजनीतिक सत्ता हथियाने की घृणित चालें हैं. और सब के ऊपर नायिका तय्यबा और बुद्धिजीवियों की जमात और मुजाहिदीन हैं जो इस आतंक और खूंरेजी के विरुद्ध अपनी कुर्बानियां देते हुए ईरान में फिर से इंसानियत को लौटाने के लिए लड़ रहे हैं. तय्यबा को अंत में हजारों संघर्षरत मुजाहिदीनों की तरह मार दिया जाता है, पर इससे संघर्ष नहीं खत्म होता, न ही हारता है. इतिहास के एक खूनी दौर का दस्तावेज होने के बावजूद चित्रण में गजब की रमणीयता और अंतरंगता है. पर उपन्यास की विशेषता चित्रण और विषय ही नहीं इसका आशावादी स्वर भी है, "नयी नस्ल कट रही है ताकि कोई न बचे जो उनके विरुद्ध हो. मगर मलीहा तुमने गौर किया है? सड़क पर निकलो तो हर औरत गर्भवती नजर आती है. जहां मौत रोज की दिनचर्या बन जाये वहां पर नये बच्चे ईरान में आंख खोलने के लिए मांओं के कोखों में पनप रहे हैं. ईरान दूसरा वियतनाम होगा. . . यह संग्राम बिना स्वतंत्रता तक पहुंचाए हम समाप्त नहीं होने देंगे. तूफान को कौन रोक सकता है?" निश्चित ही ऐसे लेखन का उदाहरण है जिसे प्रेरणाप्रद कहा जाता है.

विदेशी कथाभूमि पर ही भिन्न मानसिकता की एक और महत्त्वपूर्ण रचना **उषा प्रियंवदा** का उपन्यास **शेषयात्रा** है. उषा प्रियंवदा की अनेक रचनाओं की पृष्ठभूमि विदेश होते हुए भी उनके संदर्भ भारतीय रहते हैं. इस उपन्यास की कथा अमरीका में न घटकर किसी भी भारतीय नगर में घट सकती है. नायिका अनु की विवाह के बाद पति प्रणव के साथ अचानक उत्तर भारतीय कस्बे के माहौल से उड़कर अमरीका के चकाचौंध भरे माहौल में पहुंच जाती है और वहां पति को अपनी महत्त्वाकांक्षा का गुलाम देख कर मोहभंग की स्थिति में जीने लगती है. किंतु अपनी शेषयात्रा आंसुओं में काटने की जगह वह फैसला लेती है और भारत के ही एक अन्य पूर्वपरिचित युवक दीपांकर को अपनाकर अपनी रूढ़ियों से मुक्त होती है. दूसरे पुरुष के रूप में भी दीपांकर का ही आना उपन्यास की स्वाभाविकता की क्षति करता है और इसे एक अच्छे किस्म के रोमांस से आगे नहीं बढ़ने देता. अनु यदि किसी अमरीकी या अन्य विदेशी को अपनाती तब शायद यह अधिक स्वाभाविक होता.

उल्लेखनीय है कि विदेशी पृष्ठभूमि पर कुछ और उपन्यास इस वर्ष प्रकाशित हुए हैं. इसे क्या माना जाये? निर्मल वर्मा का प्रभाव या हिंदी लेखकों में अंतरराष्ट्रीयतावादी दृष्टि का विकास? नासिरा शर्मा की तरह यदि नामीबिया या निकारगुआ के जन संघर्षों को समर्पित कुछ उपन्यास लिखे गये होते तब निश्चय ही ऐसा कहा जा सकता था. किंतु ऐसा नहीं है. तब फिर क्या यह अपने आस-पास के कटु यथार्थ से लेखक का पलायन है? इस बहाने सहज ही भीड़ से अलग कुछ लिखने का सुख भी हाथ लगता है.

ऐसी रचनाओं में सबसे पहले **त्रोइका** का नाम लिया जा सकता है. त्रोइका (तीन घोड़ों वाली बर्फ गाड़ी) रूसी शब्द है जिसे प्रगतिशील **योगेश कुमार** ने अपनी दो अमरीकी और एक भारतीय कहानी पर (जिन्हें लघु उपन्यास कहा जा सकता है) चस्पां कर शायद आज की दुनिया के तीन महत्त्वपूर्ण ध्रुवों को मिलाने की प्रगतिशील कोशिश की है. ये तीन लंबी कहानियां हैं—**स्नो फ्लावर**, **पेगी क्रेमर की कहानी यात्रा** और **ओंकें**. 'स्नो फ्लावर' में तथाकथित नारी स्वतंत्रता वाले देश में नारी की भोग्या स्थिति की, 'पेगी क्रेमर की कहानी यात्रा' में एक हिप्पी बाला के अमरीकी भौतिकवादी समाज से भागकर रूहानी शांति के लिए भारत आने और यहां ठगे जाने की तो 'ओंकें' भाई-भतीजावाद और कुनबापरस्ती के माहौल में एक ईमानदार विश्वविद्यालय-प्रोफेसर की त्रासदी की कहानी है. तीनों ही दमदार, सुलिखित कथाएं हैं और कुछ नया पढ़ने जैसा अवश्य एहसास कराती हैं.

इसी तरह विख्यात कथा लेखिका **शिवानी** का **विवर्त** भी दो लघु उपन्यासों का संग्रह है—विवर्त और तीसरा बेटा. इनमें भी विदेश जा बसे भारतीयों की रुसवाई एक प्रमुख विषय के रूप में उभरती है. विवर्त में ललिता का पति इंग्लैंड में दूसरा विवाह कर लेता है और ललिता दुख का बोझ वहन करते हुए भी अपने को दुखद अतीत से तोड़ पाती है. तो तीसरा बेटा में सावित्री के सगे बेटे विदेश में 'बसकर' मां को भूल जाते हैं और लावारिस शिशु के रूप में मिला गंगा उसका तीसरा बेटा बन जाता है और वसीयत में जायदाद का हकदार हो कर भी सारा धन असली बेटों को सौंपकर मंच से प्रस्थान कर जाता है. ये दोनों ही कथायें शिवानीजी की श्रेष्ठ रचनाएं नहीं कही जा सकतीं. दोनों ही भावुक कथाओं की सीमा से आगे नहीं जा पातीं.

किसी भी कालखंड की प्रमुख रचनाओं का चयन उन्हीं कृतियों में से किया जायेगा जो समकालीन यथार्थ के इतिहास-बोध के साथ-साथ अपने समय की केंद्रीय समस्या में अपने विषय की तलाश करेंगी. . .

किंतु किसी भी कालखंड की प्रमुख रचनाओं का चयन उन्हीं कृतियों में से किया जायेगा जो समकालीन यथार्थ के इतिहास बोध के साथ अपने समय की केंद्रीय समस्या में अपने विषय की तलाश करेंगी. इनमें से कुछ रचनाएं सीधे इस केंद्रीय समस्या से साक्षात करती हैं तो कुछ के विषय भिन्न होते हुए भी उनके संदर्भ से जुड़े रहते हैं. जैसा कि कहा जा चुका है यदि केंद्रीय समस्या के रूप में आजादी के बाद के भारत में मनुष्य की छवि समकालीन लेखक का प्रमुख सरोकार है तो एक आलोचनात्मक यथार्थबोध उसकी केंद्रीय दृष्टि.

इस सिलसिले में सर्वप्रथम जिस रचना का नाम लिया जा सकता है वह लंबे अंतराल के बाद **मधुकर गंगाधर** का उपन्यास **उत्तर कथा** है. स्वतंत्रता आंदोलन के एक तपःपूत सेनानी गोपी मामा के मोहभंग और तद्जनित अवसाद के माध्यम से लेखक स्वातंत्र्योत्तर भारत में उन स्वार्थी तत्वों को बेनकाब करता है जो 15 अगस्त, 1947 को रातोंरात चोला बदलकर नेता बन गये और स्वार्थपरता, अवसरवाद, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद के कारण देश को खोखला कर रहे हैं. अन्य बहुत-से ऐसे उपन्यासों की तरह इसकी कथाभूमि शहर और सरकारी दफ्तर नहीं बल्कि वे गांव हैं जहां मुख्यतः भारत रहता है और जहां की जिंदगी में सब कुछ होता है. गोपी मामा के पुराने साथियों गजेंद्र सिंह और भवनाथ चौधरी और अन्य अनेक पात्रों के माध्यम से लेखक ने ग्रामीण समाज के अंतर्विरोधों, विषमताओं और उन सामाजिक कोढ़ों को भी दिखाने में सफलता पायी है जो आज भी बहुत बड़ी समस्याओं की तरह मौजूद हैं—सांप्रदायिकता, छुआछूत, जात-पांत आदि जिनके मूल में आर्थिक शोषण और जमीन की समस्या है. यहां सर्वोदय जैसा उदात्त कार्यक्रम भी स्वार्थी तत्वों के कारण सफल नहीं हो पाता और गोपी मामा जैसे ईमानदार लोग एकदम अप्रासंगिक बना दिये जाते हैं. यदि गोपी मामा इसके बावजूद अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर पाते तो यह एक बहुत शक्तिशाली उपन्यास होता. फिर भी मधुकर गंगाधर अपने विषय को गहराई और निकटता से जानते हैं और उसे प्रभावशाली कथा के रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हैं. कथा में आंचलिकता का भी पूरा स्वाद मिलता है. निश्चित ही उत्तर कथा वर्ष की श्रेष्ठ रचनाओं में स्थान पाने योग्य है.

अश्वत्थामा और मां, रवींद्र वर्मा लिखित आजादी के बाद की प्रतीकात्मक व्यंग्य कथा है जहां ईमानदार समाजचेता व्यक्ति आत्महत्या ही कर सकता है या आजादी की लड़ाई का ईमानदार सिपाही आज के हालात देख कर सनकी ही हो सकता है. आजाद भारत में युवा पीढ़ी का मानसिक विघटन दिखाने वाले इस उपन्यास की कथा उसके प्रमुख पात्रों—रमेश, सुरेश, उनके पिता हरकिशन लाल और मां के आपसी रिश्तों के खत्म होते जाने के साथ चलती है जिनमें से हरेक के सपने कहीं न कहीं टूटते हैं.

एक दूसरे धरातल पर इसी आलोचनात्मक दृष्टि के दर्शन हमें **महाराजकृष्ण काव** के उपन्यास **आसमान नहीं गिरते** में भी होते हैं. यहां विषय ब्यूरोक्रेसी बनाम राजनीति है. नौकरशाह अपनी कुर्सी बचाने के लिए कैसे समझौते करते हैं और राजनीतिज्ञ कैसे हथकंडे अपनी नेतागीरी बचाये रखने के लिए अपनाते हैं, इसका जीवंत चित्रण उपन्यास में हुआ है. लेखक स्वयं सरकारी अफसर है इसलिए चित्रण में विश्वसनीयता है. तकनीक और शैली की नवीनता के कारण इस अति परिचित विषय के बावजूद उपन्यास पठनीय है. नयी आई. ए. एस. विजया उद्योग विभाग की भ्रष्ट छवि बदलने के मंसूबे के साथ नये पद पर आती है पर नहीं बदल पाती. उसका एक स्कैंडल में नाम उछलता है और तब तक एक अनावश्यक तत्त्व की तरह वह दिल्ली स्थानांतरित कर दी जाती है. उसे भगाने वाले उसे अच्छी विदाई देते हैं. इति सिद्धम्, एक ऐसा गोरखधंधा जो कभी बदल नहीं सकता. यहां पात्र कथानक की तरतीब के मोहरे हैं, व्यक्ति नहीं. इसलिए उन सीमांतों को छू पाने में असफल रहते हैं जिसकी आशा जगाते हैं.

चंद्रकांता के नये उपन्यास **ऐलान गली जिंदा है** में आलोचनात्मक दृष्टि के साथ उस युवा पीढ़ी की निराशा और पीड़ा का अंकन हुआ है जो आज काम की तलाश में अपना

घर गांव छोड़कर महानगरों की ओर भागती है और उसका घर उसकी स्मृतियों में ही जिंदा रहता है. परिवेश को बेहतर बनाने की एक बेचैनी भी हम इस उपन्यास में देखते हैं जो आज के समाजचेता उपन्यासकार की एक विशेषता है. उपन्यास की एक और विशेषता इसका पूर्ण यथार्थवादी स्वर है. लेखिका ने रूपकों और प्रतीकों की भाषा में बात नहीं की है जो उसकी औपन्यासिक प्रौढ़ता का सूचक है. इशारों में तभी बातें होती हैं जब सीधे सच न बोला जा सके. और जब बिना किसी बनावट के सच बोला जा सके तो, जैसा तॉल्स्तोय ने गोर्की से एक बातचीत में कहा था, उसका अपना ही एक आकर्षण और प्रभाव होता है. चित्रण की खूबी के कारण ऐलान गली कश्मीर की ही नहीं, अपनी स्थानिक विशिष्टताओं के साथ देश के किसी कोने की भी गली हो सकती है जो अपनी जमीन छोड़कर महानगरों में रहने वालों के दिल-दिमाग में जिंदा रहती है, चाहे वास्तव में वह समय के बदलावों के साथ मिट रही हो. इस ऐलान गली के बाशिंदे अनवर मियां, दयाराम आदि आदमकद लोग हैं. युवा पीढ़ी का चित्रित नैराश्य पाठक में निराशा नहीं पैदा करता. चंद्रकांता से और बड़ी उम्मीदें की जा सकती हैं.

सुरेंद्र मनन का उपन्यास **सीढ़ी** अपेक्षतया लघु किंतु प्रभाव में तीखी रचना है. उपन्यास का पूरी दुनिया से नाराज नायक नौकरी छोड़कर पूरे डर से एकबारगी अपने आप को तोड़ लेने की दुस्साहसिकता तक करता है, किंतु उसकी सकारात्मकता इस बात में है कि वह दुनिया में कोई उथल-पुथल करने की रोमानी महत्वाकांक्षा का शिकार नहीं है बल्कि एक ट्रेड यूनियन नेता से प्रेरित होकर सबके साथ चलते हुए दुनिया के बदलाव की सार्थक लड़ाई लड़ने में है. आवेगात्मक गहराई के साथ कही गयी कथा यथार्थवादी लेखन की नयी शैली तलाशते हुए सीढ़ी को एक पठनीय उपन्यास बनाती है.

स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास का एक बहुत बड़ा हिस्सा वामपंथी आंदोलन के उतार चढ़ाव से भी संबंधित रहा है जो **विष्णुचंद्र शर्मा** के उपन्यास **ठहरा हुआ शहर** के अनुसार अवसरवाद के दलदल में विलीन हो रहा है. साहित्य के निकट रहनेवाला बुद्धिजीवी अलख इस पूरे दौर से गुजरता है और कबीर जैसी वक्रोक्ति शैली में उसके पास सब के लिए गुस्सा और व्यंग्य है और एक विकल्प की तलाश करता हुआ वह अपने ही संत्रास की त्रासदी बन जाता है, क्योंकि विकल्प की चेतना के बावजूद उस विकल्प का उसके पास कोई नक्शा नहीं है. अवसरवाद चंद नेताओं या व्यक्तियों के व्यवहार या दुर्व्यवहार से नहीं बल्कि पार्टियों के ऐतिहासिक फैसलों के समानांतर चलने वाली कथा से प्रकट हो सकता था जिसकी झलक यहां नहीं है. उपन्यास की विशेषता राजनीति और वाम आंदोलन के इर्द-गिर्द रहने वाले अनेक दिलचस्प पात्रों और कुछ साहित्यिक व वामपंथी संस्थानों का अंतरंग चित्रण है और राजनीति का विषय होने के बावजूद पूरी कथा एक रम्य रचना की तरह पढ़ी जा सकती है. ऐसे विषय की अपेक्षित विराटता और विश्लेषण के अभाव के बावजूद यह जीवनीकार और कवि के रूप में प्रशंसित विष्णुचंद्र शर्मा का अब तक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है.

स्वातंत्र्योत्तर समाज में व्यवस्था की जकड़न शहरों से अधिक दूरवर्ती गांवों में महसूस होती है जहां आर्थिक शोषण के साथ-साथ परंपरा की जकड़न व्यक्ति की अस्मिता को पीस डालती है. इन सब के साथ है एक विनाशकारी तत्व की तरह प्रकृति भी जो प्रलय ढाती है. यह विषय है **बटरोही** के नये उपन्यास **महर ठाकुरों का गांव** का. कथा अल्मोड़े की एक दुर्गम घाटी के गांव सीरगाड़ के जनजातियों महरों की है जो अपने को ठाकुर कहते हैं. सुधारवादी ब्राह्मण हर-दा शास्त्री की उन्हें भारी विरोध का सामना करते हुए अंधकार से बाहर लाने की कोशिश भी नाकाम रहती है और तब सीरगाड़ नदी का पानी, मानो उसे अपवित्र करने के दंडस्वरूप पूरे गांव को ही खत्म कर देता है. उपन्यास जहां यथार्थवादी लेखन की ओर बटरोही के विकास का सूचक है, वहीं इसकी एक विशेषता, अब तक के पर्वतीय कथानकों की केवल रम्यता की जगह, वैचारिकता भी है. महर ठाकुरों के नष्ट हो जाने के बावजूद उपन्यास उस अंचल में विद्रोह की उस सुगबुगाहट को दिखा पाने में सफल है जिसके अंकुर वहां फूटने लगे हैं.

परिवेश की गहरी समझ और बयान की खूबसूरती के कारण वर्ष की एक और विशिष्ट रचना है **अब्दुल बिस्मिल्लाह** का उपन्यास **समर शेष है**. काव्यात्मक संस्पर्श के साथ उत्तर प्रदेश के कस्बों के माहौल से गुजरते कथानायक को गरीबी के साथ ही उस सांप्रदायिक विद्वेष और उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है जो आजादी के बाद कम होने की जगह बढ़ी है. लेकिन यहां बाहर कोई लड़ाई नहीं बनती, लड़ाई नायक की मानसिकता में भीतर ही भीतर बलवती होती है, एक असहनीय पीड़ा के रूप में, जो अंततः नायक को शारीरिक रूप से तोड़कर भी जूझने के नये संकल्प से लैस करती है. पुराणों का फीनिक्स पक्षी अपनी राख से उठ खड़ा हुआ था, यहां अस्पताल में पेट के बल रेंगता नायक खुले आकाश और रोशनी के बीच अपना पुनर्जन्म देखता है. गठन, डिटेल्स की बारीकी और कलात्मक शिल्प के कारण पठनीयता के बावजूद नायक सामाजिक उत्पीड़नों का वैयक्तिक भोक्ता ही बना रहता है जो सहानुभूति के स्तर पर ही संवाद बना पाता है.

आज के उपन्यासकार का एक सरोकार नये विषयों की तलाश भी है. वर्तमान सामाजिक संदर्भों को लेते हुए एक भिन्न विषय पर लिखा **संजीव** का नया उपन्यास **सर्कस** है, हालांकि इस विषय पर यह हिंदी का पहला उपन्यास नहीं है. कथा झरना, रूपा, सीता, गीता और सुजाता आदि भिन्न-भिन्न नामों से विभिन्न सर्कसों में काम करने वाली, जोकर रामू दादा की बेटी, सर्कस कलाकार कामिनी के इर्द-गिर्द आगे बढ़ती हुई, तंबुओं में बसी जादूनगरी जैसी दुनिया का विशद अंतरंग चित्र ही नहीं उपस्थित करती बल्कि कामिनी जैनुल आदि अनेक सर्कस कलाकारों की व्यक्तिगत जिंदगियों, उनकी त्रासदियों और शोषण तथा उनकी विक्षिप्तताओं का भी साक्षात कराती है. साथ ही चलती रहती है सर्कस मालिकों की व्यावसायिक होड़ की अंतर्कथा भी जिसमें सर्कस को समर्पित मालिक व्यावसायिकता के दबाव में अप्रासंगिक होते जाते हैं. एक पेंटर से विवाह के बाद कामिनी भी टूटती है किंतु अंत में संधू दीदी के साथ अपने व्यावसायिक इस्तेमाल के विरुद्ध खड़ी भी हो जाती है.

इन उपन्यासों के पढ़ने के बाद कुछ प्रश्न उठे बिना नहीं रहते. पता नहीं हिंदी लेखक आलोचनात्मक यथार्थ के बिंदु से आगे क्यों नहीं बढ़ता. उस पर ऐसी क्या आन पड़ी है कि न तो वह व्यापक सामाजिक संदर्भों में होरी जैसा दुख झेलनेवाला महाकाव्यात्मक चरित्र बना पाता है और न अपने चतुर्दिक नरक से टक्कर लेनेवाला शक्तिशाली पात्र. ऐसी हालत में कई छोटे-मोटे उपन्यास तो शिकायतों के पुलिंदे मात्र लगते हैं जो किसी संपादक के नाम पत्र में भी हो सकती है. **शैलेश मटियानी** का उपन्यास **मुठभेड़** सामने न आया होता तो यही मान लेना पड़ता कि ऐसे लेखन का दीवाला पिट चुका है. निश्चित ही यह उपन्यास उस बड़े संघर्ष की ओर संकेत करता है जो सारे देश में किसी न किसी स्तर पर हर जगह सर्वहारा के लोग लड़ रहे हैं. इसे वर्ष की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में एक कहा जायेगा.

इन उपन्यासों के अतिरिक्त दो अन्य उपन्यासों के उल्लेख के बिना यह चर्चा अधूरी रह जायेगी. ये उपन्यास हैं **मृदुला गर्ग** का **मैं और मैं**, तथा **धर्मेंद्र गुप्त** का **खुशबू और पत्तियां**.

मार्क ट्वेन ने अपने एक उपन्यास के अंत

(पृष्ठ 59 पर जारी)

वर्ष 1984 की पत्रिकाएं एवं साहित्यिक हलचल

दिविक रमेश

सन् 1984, साहित्यिक जगत के लिए ऐतिहासिक चुनौतियों का वर्ष रहा है. स्वर्ण मंदिर में सेना का प्रवेश, स्वर्ण मंदिर में युद्ध सामग्री का बरामद होना, श्रीमती इंदिरा गांधी की उनके अपने ही अंगरक्षकों द्वारा हत्या और उसके बाद व्यापक रूप में सांप्रदायिक दंगे ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं हैं, जिनसे साहित्यिक पत्रकारिता और सृजनात्मक लेखन प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता था. विस्मय और शोक भरे इस वर्ष ने फैज अहमद फैज जैसे विश्वविख्यात साहित्यकार को भी खोया है.

साहित्यिक गतिविधियों की दृष्टि से यह वर्ष भी पिछले वर्षों की भांति काफी सक्रिय रहा है. इस वर्ष ने अनेक उल्लेखनीय साहित्यिक गोष्ठियों और समारोहों का आनंद दिया है. राजधानी में सक्रिय संस्थाओं में जहां हिंदी अकादमी, साहित्य अकादमी, साहित्य कला परिषद, आथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया (दिल्ली इकाई), लेखिका संघ, राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ, जनवादी लेखक संघ, भारतीय लेखक संगठन, गवाक्ष और दिशाबोध संस्थाएं विशेष कही जा सकती हैं, वहां सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार समिति, भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य-संगम, दीर्घा, लेखक मंच जैसी अनेक संस्थाओं ने भी साहित्यिक चहल-पहल में भरपूर सहयोग दिया है. राजधानी के बाहर के क्षेत्रों में भी अनेक संस्थाओं ने साहित्यिक गतिविधियों के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान किया है.

आइए अब जायजा लें वर्ष १९८४ की साहित्यिक गतिविधियों का..... और साथ में देखें कि इस चर्चित वर्ष में किन लघु पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक और प्रवेशांक सामने आये. . . .! और क्या इन पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य-जगत में चले आ रहे पठनीय-सामग्री के अभाव को किसी हद तक कम किया है. . . .?

10 जुलाई को हिंदी अकादमी, दिल्ली की ओर से एक सम्मान समारोह आयोजित किया गया जिसके अंतर्गत सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेंद्र के सानिध्य में डॉ. रामदरश मिश्र, कृष्णा-सोबती आदि साहित्यकारों को पुरस्कार दिए गये. इस अवसर पर जैनेंद्रजी ने एकता, अखंडता की जरूरी बताते हुए अलगाववाद का विरोध किया. हिंदी दिवस के अवसर पर अकादमी की ओर से 'हिंदी अकादमी के दो वर्ष' शीर्षक से, अकादमी से संबद्ध जानकारी से भरपूर एक पुस्तिका भी प्रकाशित की गयी. 'मासिक साहित्यिक कार्यक्रम' के अंतर्गत इस संस्था की ओर से डा. निर्मला जैन के संयोजन में, 27 जुलाई को निर्मल वर्मा के कहानी संग्रह 'कव्वे और काला पानी' पर एक संवाद गोष्ठी सफलता के साथ संपन्न हुई. दिल्ली प्रशासन की ही एक अन्य संस्था 'साहित्य-कला परिषद' भी इस वर्ष एक हद तक सक्रिय रही. जहां हिंदी अकादमी के साथ मिलकर इस संस्था ने 23 जनवरी को एक कवि सम्मेलन आयोजित किया, वहां आथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया (दिल्ली इकाई) के साथ 11-12 अगस्त को 'सम-सामयिक भारतीय कविता की प्रवृत्तियां' शीर्षक के अंतर्गत असमिया, गुजराती और तेलुगू भाषाओं की कविताओं पर महत्त्वपूर्ण 'सेमीनार' संपन्न कराया. इसके अतिरिक्त शीर्षक नाटक प्रतियोगिता तो करायी ही गयी साथ ही 22 मार्च को रचना गोष्ठी–2 के तहत व्यंग्य गोष्ठी का आयोजन किया गया. खेद है कि साहित्य कला परिषद अपेक्षाओं से बहुत कम सक्रिय है. जबकि इस संस्था के पास पैसे की कमी नहीं है.

कुछ प्रारंभिक असफलताओं के बाद साहित्य अकादमी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्म—शतवार्षिकी के अवसर पर एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का सफल आयोजन कर सकी. इस गोष्ठी का उद्घाटन 29 अक्तूबर को अकादमी की महत्तर सदस्या श्रीमती महादेवी वर्मा ने किया. संगोष्ठी का अंतिम चरण श्रीमती इंदिरा गांधी की अकस्मात हत्या के कारण रद्द कर दिया गया. दिल्ली के अनेक साहित्यकार संगोष्ठी में प्रतिनिधि न बनाए जाने पर रुष्ट थे. प्रतिनिधि बनाने की नीति का कोई स्पष्ट उत्तर अकादमी के सचिव के पास नहीं था. 12 और 13 मई को हिंदी साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद की ओर से भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्मशती के सिलसिले में एक-दो दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन संपन्न हुआ.

गुरु गोविंदसिंह साहित्य प्रकाशन–प्रसारण समिति (उ.प्र.) और भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली द्वारा आयोजित एक विमोचन समारोह में 1 अक्तूबर को गुरु गोविंद सिंह जी महाराज की अनुपम काव्य-कृति 'रामावतार' (हिंदी लिप्यंतर) का राष्ट्रपति द्वारा विमोचन किया गया. 29 जून को लेखक मंच, दिल्ली द्वारा संयोजित समारोह में मस्तराम कपूर द्वारा लिखित पुस्तक 'हम सब गुनहगार' विमोचित हुई. 7 जनवरी को हिंदुस्तान टाइम्स प्रकाशन समूह द्वारा आयोजित एक कवि-गोष्ठी श्री भवानी प्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में संपन्न हुई. नयी दिल्ली में आयोजित इस गोष्ठी का उद्घाटन श्री भगवत झा आजाद ने किया. शहीद भगत सिंह की स्मृति में 31 मार्च को प्रगतिशील लेखक संघ (त्रिनगर) ने भी राजीव सक्सेना की अध्यक्षता में एक काव्य-संध्या का आयोजन किया. गोष्ठी में अनेक नये

● साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित आचार्य रामचंद्र शुक्ल जन्मशती समारोह का एक दृश्य

● सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार (1984) से सम्मानित लेखक, कलाकार.

उभरते युवा कवियों ने भी भाग लिया. शिमला के महत्त्वपूर्ण साहित्य, संस्कृति और कलाओं के मंच 'शिखर' की ओर से 23 और 24 जून को अखिल भारतीय सम्मेलन का भव्य आयोजन हुआ. जनवादी लेखक संघ, दिल्ली की ओर से 3 मार्च को काव्य गोष्ठी, 31 मार्च को आज की गजल पर विचार गोष्ठी और 6 अप्रैल को समीक्षा गोष्ठी आयोजित की गयी. इस वर्ष में राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ (राजस्थान) और उससे जुड़ी इकाइयां पर्याप्त रूप से सक्रिय रही हैं. 9-10 अप्रैल को संघ की ओर से साहित्य दिवस मनाया गया जिसमें साहित्य और समाज से जुड़े हुए प्रश्नों पर विचार किया गया और जन-संघर्ष में साहित्यकार की भूमिका को रेखांकित किया गया. उल्लेखनीय है कि 10 अप्रैल, 1936 को लखनऊ में प्रगतिशील लेखक आंदोलन का प्रारंभ महान कथाकार प्रेमचंद के सभापतित्व में हुआ था.

राजधानी के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में भी दो दिनों (25-26 फ़रवरी) बहुत रौनक रही. अवसर था लेखिका संघ द्वारा आयोजित दूसरा अखिल भारतीय सर्वभाषायी सम्मेलन, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और भारतीय समाज के निर्माण के संदर्भ में साहित्यकार की भूमिका पर विचार-विमर्श हुआ. गोष्ठी में लगभग 150 लेखिकाओं ने भाग लिया. राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा भी 20 एवं 21 जनवरी को उदयपुर में राजस्थान लेखिका सम्मेलन आयोजित किया गया जिसका उद्‌घाटन मन्नू भंडारी ने किया. गोष्ठी में भाग लेने वालों में सुलोचना रांगेय राघव भी थीं.

विश्वविद्यालय के स्तर पर आयोजित साहित्यिक समारोहों की दृष्टि से दिल्ली विश्वविद्यालय की हीरक जयंती के अवसर पर 17 फरवरी को आयोजित कवि-गोष्ठी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की हीरक जयंती समारोह के मौके पर डा. जगदीश गुप्त के अथक प्रयासों से आयोजित त्रिदिवसीय संगोष्ठी और डा. पुष्पा राही के संयोजन में जानकी देवी महाविद्यालय, दिल्ली की रजत जयंती के उपलक्ष्य में 21 जनवरी को आयोजित कवि-गोष्ठी अत्यंत महत्त्व की कही जा सकती है. इसके अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की ओर से 15 मार्च से 20 मार्च तक विज्ञान भवन में अनुवाद में साहित्य विषय पर पहला अंतर्राष्ट्रीय समारोह आयोजित किया गया जिसमें देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने भाग लिया. राइटर्स वर्कशॉप, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित दिविक रमेश की अंग्रेजी में अनुदित कविताओं के संकलन 'फेदर' का भी डा. प्रभाकर माचवे द्वारा विमोचन किया गया.

पत्र-पत्रिकाएं

साहित्यिक पत्रिकाओं की दृष्टि से 1984 का वर्ष भी काफी समृद्ध रहा है. अनेक नयी पत्रिकाओं का इस वर्ष ने स्वागत किया है, पुरानी पत्रिकाओं के नये अंकों को सम्मान दिया है और गतवर्ष जन्मी पत्रिकाओं में से अनेक को पाला-पोषा है. सबसे पहले इस वर्ष में जन्मी कुछ पत्रिकाओं पर विचार कर लिया जाये. इस वर्ष जहां एक ओर प्रारंभ में ही 'वामा' जैसी व्यावसायिक पत्रिका ने पदार्पण किया, वहां अनेक लघु पत्रिकाएं भी सामने आयीं. ऐसी महत्त्व की लघु पत्रिकाओं में **हिम संस्कृति**—शिमला, **सोच**—उज्जैन, **फिलहाल**—मुंगेर, **लेकिन**—बंबई, **नीलकंठ**—जम्मू और **सुहासदीप**—दिल्ली आदि आती हैं.

हिमसंस्कृति एक संभावनापूर्ण पत्रिका है, जिसमें चंद्रधरशर्मा गुलेरी के विचार तथा लोक साहित्य, लोक संस्कृति तथा पुरातत्व पर अच्छे लेख हैं. **सोच** के अंतर्गत प्रकाशित सुरेश शर्मा की कहानी और निर्मल शर्मा की कविता अच्छी बन पड़ी है. **फिलहाल** का उद्देश्य मुखपृष्ठ पर प्रकाशित अफ्रीकी कविता 'लाल हमारा रंग' के इस अंश से समझ में आ जाता है—कवि/जाओ/और हथियार गढ़ने में मदद करो/जाओ इससे पहले कि/पिछले की तरह यह देश कभी/अतीत के गर्भ में विलीन हो जाये/तुम/जनता के पास जाओ.

गत वर्ष जन्मी पत्रिकाओं में **शिखर**, **बिगुल**, **कदम**, **तेवरी** आदि ने अपने कदम बढ़ाये हैं.

गत वर्ष की भांति 1984 में भी अनेक पत्रिकाओं ने विशिष्ट अंक प्रकाशित किए हैं. **शीराजा** (अगस्त-नवंबर 1983—प्रकाशित 1984) में शेरे कश्मीर शेख अब्दुल्ला पर पर्याप्त सामग्री प्रकशित की गयी है. **धरती** (इलाहाबाद) का अंक 6 आलोचना विशेषांक है जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, डा. रामविलास शर्मा आदि पर महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं. **श्रेय** (जून 1984) ने पाकिस्तानी गजल विशेषांक प्रकाशित करके एक महत्त्व का काम किया है. संभवत: इस प्रकार का प्रयास पहला है. **उत्तरगाथा** (अंक: 18-जुलाई-सितंबर) फैज-विशेषांक है. नवलेखन के पक्षधर किंतु उसकी गलाजत के विरोधी के रूप में **सनीचर** (औराई, वाराणसी) वर्षों से अपने सीमित साधनों के बीच निकल रहा है. समय-समय पर इस पत्रिका के अच्छे विशेषांक भी प्रकाशित हुए हैं. विवेचित वर्ष में इस पत्रिका का नाटक एवं रंगमंच विशेषांक आया है. **वीर्था** (दिल्ली) ने अपना पूर्णांक 28 कविताओं के रूप में प्रकाशित किया है. इसमें 10 युवा कवियों की कविताएं संकलित की गयी हैं—उनका परिचय भी छापा गया है. **कलमवाला** (दिल्ली, जनवरी–मार्च) हास्य व्यंग्य विशेषांक है जिसमें कविताएं अधिक हैं. रंगमंचीय चलताऊ ढंग की रचनाओं पर जोर दिया गया है. **मरीचो** (कलकत्ता) अगस्त अंक कवितांक कहा जा सकता है. **अक्षर** पटना) का जुलाई अंक लघुकथा अंक और (अक्तूबर) का गजल अंक हैं. **सानुबंध** (उन्नाव) के जुलाई अंक में पुरातत्व संबंधी विशेष सामग्री प्रकाशित हुई है. **कादंबिनी** का-सा रूप-रंग पाती इस पत्रिका के इस अंक में भी वैविध्यपूर्ण सामग्री है. **केशव प्रयास** (ग्वालियर) की ओर से 1984 में भी अनूठे ढंग के बढ़िया विशेषांक पाठकों को दिए गये हैं. **आजकल** (अक्तूबर 84) भी विशेषांकों की श्रेणी में आता है. यह अंक बिहार पर केंद्रित है. **स्वाधीनता विशेषांक** निकालनेवाली पत्रिकाओं में **संबोधन** (कांकरोली), **हरियाणा संवाद** (15 अगस्त) और **गणतंत्र विशेषांक** निकालनेवाली पत्रिकाओं में **तहकीकात** (रोहतक), **सहकारी युग** (रामपुर) और **किशोर प्रभात** मुजफ्फरपुर है. **दर्शनअंकन** के अक्तूबर और नवंबर-दिसंबर अंकों में आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री से संबद्ध समाग्री प्रकाशित हुई है.

हिंदी की लघु पत्रिकाओं में **पहल**, **आवेग**, **जमीन**, **अभिप्राय**, **दस्तावेज** का विशेष स्थान है. **बहस–7** में प्रकाशित तरसेम गुजराल की कविता 'रोटी का मजहब' 1984 में हो चुके विषाक्त मौसम की सशक्त अभिव्यक्ति है. शहरयार और मंजीत सिंह चंदन की इसी जमीन पर लिखी गयी कविताएं भी मन को छूती हैं. गोरख पांडेय की लोक शैलीवाली कविताएं मुझे काफी पसंद हैं. किंतु इस अंक में प्रकाशित कविता फूहड़पन की शिकार हो गयी है.

इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त **संचेतना**, **विषय वस्तु**, **क्रमशः**, **अक्षरा**, **संधान**, **गगनांचल** और **मधुमति** के अंक भी प्रकाशित हुए हैं. **संचेतना** के अंक पंजाब समस्या से संबद्ध सामग्री को लेकर चर्चित हुए हैं. **अक्षरा** 6-7 और 8-9 अंक इस वर्ष में छपे हैं. अक्षरा (6-7) में प्रकाशित कन्हैयालाल नंदन की कविताएं 'पहचान' और 'तुम्हें नहीं लगता' बेहतरीन कविताएं हैं.

मधुमति का प्रत्येक अंक उदार और सही संपादकीय दृष्टि का नमूना पेश करता हुआ प्रकाशित हुआ है. राजस्थान के किसी न किसी साहित्यकार पर सामग्री जुटाने का संकल्प सराहनीय है. मधुमति की भांति गगनांचल (अंक 2 और 3) ने भी साहित्य के क्षेत्र में उदार दृष्टि से खास भूमिका अदा की है. केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दिल्ली की पत्रिका **भाषा** (त्रैमासिकी) निस्संदेह एक अच्छी साहित्यिक पत्रिका है. भारतीय साहित्य का समवेत रूप इस पत्रिका के माध्यम से मिलता है.

पृष्ठभूमि (लखनऊ) काफी समय से निकल रही है. इसके दो अंक (22 जनवरी–6 फरवरी और 22 फरवरी–21 मार्च) मेरे सामने हैं. अपनी छपाई में कम आकर्षित इन अंकों में विविध प्रकार के विषयों से संबंद्ध साहित्य भी छपा है. मासिक पत्रिका **शब्दधर** (फरवरी 1984, इंदौर) एक साधारण अंक है. जबकि **नवदूर्वा** (जन. फरवरी, इलाहाबाद) में कुछ महत्त्व की सामग्री उपलब्ध है. **अतिरेक** नवंबर-दिसंबर अंक में 1984 की सर्वाधिक ज्वलंत समस्या सांप्रदायिकता पर गंभीरता से संपादकीय लिखा गया है. **प्रजा** (भोपाल, जनवरी फरवरी-मार्च) में हरिशंकर परसाई का व्यंग्य 'पहिला सफेद बाल' बहुत ही रोचक है. रोहतक से प्रकाशित पत्र **पींग** (15 दिसंबर) में डा. कुमार जगदीश ने वैदिक साहित्य में इस शब्द का श्रोत ढूंढ़ा है. इनके अतिरिक्त **परत-दर-परत** (सिरसा, 26 नवंबर), **महाविद्यालय**, **संदेश** (लखनऊ), **शिविरा** (बीकानेर), **बाजार पत्रिका** (नयी दिल्ली), **आगमन** (रेवाड़ी), **सृजन प्रक्रिया** (बंबई) **मित्र संगम** (दिल्ली), **मिनी युग** (मिनी विधा की पत्रिका दिल्ली), **दुनियादार** (नरेला मंडी, दिल्ली), **हरियाणा सौरभ** (पानीपत), **प्रयास** (नयी दिल्ली), **आधारशिला** (बरेली), **ज्ञानवाणी** (फैजाबाद), **ऋतुचक्र** (इंदौर), **अनुमेहा** (उन्नाव), **प्रतिध्वनि** (कानपुर), **हमसफर** (पटना), **प्रेक्षा** (दिल्ली); **समकालीन भारतीय साहित्य**, नयी दिल्ली, आदि पत्रिकाओं ने साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत करके 1984 वर्ष के साहित्य परिदृश्य में योगदान किया है.

बच्चों की पत्रिकाओं में **लल्लू जगधर** और **बाल साहित्य समीक्षा** ने व्यावसायिक स्तर पर निकल रही बाल-पत्रिकाओं के साथ कंधे से कंधा मिलाया है.

अंग्रेजी पत्रिकाओं में साहित्य अकादमी की **इंडियन लिटरेचर** और अरुणा सीतेश एवं सीतेश आलोक द्वारा संपादित एवं नियमित रूप से प्रकाशित पत्रिका **'प्रतिभा इंडिया'** ने सदा की भांति भारतीय साहित्य को बखूबी प्रस्तुत किया है.

नि:संदेह हिंदी में साहित्यिक पत्रिकाओं का अंबार है. अहिंदीभाषी प्रदेशों में ही नहीं, विदेशों तक में—**ज्वालामुखी** (जापान), **बसंत** (मोरिशश)—हिंदी पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं. यह अलग बात है कि हम कितना उन तक अथवा वे कितना हम तक पहुंच पाती हैं. अनेक पत्रिकाएं ऐसी होंगी जो महत्त्व की होते हुए भी यहां विवेचित होने से रह गयी होंगी. उनके छूट जाने का एकमात्र कारण है उनका मेरे संपर्क स्रोतों में उपलब्ध न हो सकना. मैं अपनी इस सीमा के लिए फिलहाल खेद ही व्यक्त कर सकता हूं. □

वर्ष 1984 के उपन्यास . . .

पृष्ठ 56 से आगे

में लिखा था:— इसका कोई अर्थ ढूंढ़ने वाले को सजा दी जायेगी और अगर कोई इसका सामाजिक अर्थ खोजेगा तो उसे गोली मार दी जायेगी. अपने उपन्यास का अर्थ ढूंढ़ने वाले को मृदुलाजी क्या सजा देंगी यह तो वही जानें, लेकिन जिस तरह मॉम ने 'आफ ह्यूमन बांडेज' नामक उपन्यास अपने एक अति अनुशासनप्रिय पादरी चाचा के प्रेत से छुटकारा पाने के लिए लिखा था, क्या ऐसा ही कोई प्रयास यहां भी है?

. . .लेकिन वहीं सामाजिक संदर्भों के बिना **धर्मेंद्र गुप्त** की कल्पना भी नहीं की जा सकती. फिर भी उनके नये उपन्यास **खुशबू और पत्तियां** में सामाजिकता की पृष्ठभूमि होने के बाद भी निजता का स्वर प्रबल है. साथ ही गली मुहल्ले और परिवार का वह माहौल भी निकटता के साथ चित्रित है जो आज उपन्यासों मे गायब होता जा रहा है. इसी कारण उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों नगर **पुत्र हंसता है** और **नोन तेल लकड़ी** के मुकाबले आकार में लघु होते हुए भी यह 'घाव करत गंभीर' की उक्ति को चरितार्थ करता है. बूढ़ी विधवा तहसीलदारनी का बड़ा घर और पास-पड़ोस तथा परिवार के लोगों का परिचित बना बनाया माहौल है पर युवा पीढ़ी की कशमकश के साथ उसमें बदलाव के अंकुर भी फूटते है और तभी जप-तप, पूजा-पाठ, तीरथ-बरत और तुलसी मैया से गहराई से जुड़ी तहसीलदारनी का वास्तविक ममत्व-भरा रूप सामने आता है. इस तरह कि नागरजी याद आ जाते हैं.

अंत में, इन उपन्यासों में, यद्यपि कुछ निश्चित ही भविष्य में जीवित रहेंगे, तथापि भावी प्रवृत्ति क्या होगी यह नहीं कहा जा सकता. इस सदी के शुरू में विश्व विख्यात उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने 'टाइम्स टिरेरी सप्लिमेंट' में ऐसे ही एक सर्वेक्षण में विक्टोरियाकालीन कुछ फैशनेबुल विभूतियों की चर्चा में कहा था, "और इनमें एक पिछलग्गू नाम डी. एच. लारेंस का है जिनका एक उपन्यास 'संस एंड लवर्स' प्रकाशित हुआ है." उन विभूतियों के जुलूस को अब कोई नहीं जानता पर 'संस एंड लवर्स' आज भी पढ़ा जाता है. हेनरी जेम्स बहुत बड़े लेखक थे, खतरे उठा सकते थे. मैं ऐसा खतरा नहीं उठा सकता. □

घरघुसरा

मनहर चौहान

अमरित चुपचाप झाड़ी के पास आकर खड़ा हो गया. रात का अंधेरा इतना घना था मानो उसे छुआ जा सकता हो. साल भर पहले अमरित ने कसबा छोड़ा था, तो रात इसी तरह अंधेरे की गोद में सहमी हुई थी. आकाश को इसी तरह कारे बादलों ने निगल लिया था. और उन बादलों में इसी तरह बिजली की कोई लपलपाहट नहीं थी. अमरित ने आकाश की तरफ देखा. कारे बादल, जो कहीं कम कारे थे, कहीं ज्यादा, खामोशी से उतरा रहे थे. उनका उतराना रहस्यमय था. और थोड़ा डरावना भी. सालभर पहले की वह रात भी ऐसी ही थी जब पगडंडी पर अमरित चलता गया था... आगे... इसी तरह हवा के हलके झोंके लग रहे थे. और पगडंडी के दोनों ओर की फसलें कारेपन में उनींदी लहरों से लदी थीं.

अमरित पगडंडी पर आगे बढ़ा. आदमी का मन टूटन से भरा हो, फिर भी उसके चलने की आवाज क्यों नहीं होती? झाड़ी का दुबकाव पीछे छूट गया. अमरित ठीक सामने अंधेरे में और अंधेरे धब्बे की तरह उस कुंए को देख सका. ठिठक गया वह. कुंए की गोल करवट छूने के बाद ही पगडंडी कसबे में घुसती है. आगे बढ़ेगा अमरित, कुआं करीब आ जायेगा. तब भीतर की पनीली गहराई से कहीं बिजुरी बोल न पड़े, "आ गये?"

क्या जवाब देगा अमरित?

शिकायत बिजुरी की नाजायज न होगी. जरूर कहेगी वह, "लौट के आना था, तो गये ही क्यों रहे?"

कुएं में बिजुरी है?

किसी ने नहीं बताया था अमरित को कि कुएं में बिजुरी है, लेकिन वह जानता था इस बात को. और जब बिजुरी वहां है, तो जरूर पूछेगी वह, "आ गये?" सवाल कुएं की गोल दीवारों में गूंज जायेगा और तुरंत भीतर से आवाज निकलेगी... ऊंआं... ऊंआं... कच्ची आग से धुआं उठता है न, उसी तरह पनीली गहराई से भाप उठेगी... ऊंआ... दम घोंट देगी यह भाप... ऊंआं... ऊंआं!

एक पल के लिए अमरित सोच भी गया कि वापस लौटकर उसने भूल की है और इस भूल को सुधारने का मौका अभी हाथ से गया नहीं यदि वह कसबे के बाहर-ही-बाहर से वापस लौट आये—घुल जाये अंधेरे में, तो कौन जान पायेगा कि अमरित आया था?—वापस आया था.

लेकिन क्या बिजुरी भी न जानेगी इसे? कैसे न जानेगी. आतमा से भला कोई बात छुप सकती है? बल्कि बिजुरी का आत्मा तो उसी समय जान गयी होगी जब वापस लौट आने का विचार पहली बार अमरित के मन में आया था. तब बिजुरी ने कुएं में बैठे-बैठे जादू चलाया होगा. तभी तो मन में विचार का जो अंकुर फूटा था, वह एकाएक पेड़ बन गया था—इतना बड़ा पेड़—जवान.

अमरित सिहरा. लगा था, कुएं की जगत पर से बिजुरी के चेहरे ने झांककर उसकी ओर देखा है. झांककर तुरंत डूब गया है वह—कुएं के छल्ले के भीतर.

परेत आतमा का क्या भरोसा. अभी खुश, अभी नाराज. अमरित के मन में एक अजीब आशंका जड़ जमाकर बैठ गयी—अगर मैं वापस लौटा, तो कुएं में से जरूर अस्थिपंजर निकलेगा... हड्डी-हड्डी-हड्डी चकचक-चिक... चकचक-चिक नाचेगा अस्थिपंचर... हंसेगा-अस्थि-पंजर उड़ेगा—झुम्म. पास आयेगा—झपाक और चिपक जायेगा गले से —खीखीखी.

नहीं, अब वापस नहीं लौटा जा सकता. आ गया हूं, तो आ गया हूं. अगर जो नहीं जाऊंगा न वापस, तो परेत को दुख न होगा. दुख न होगा, तो नाराजगी भी न होगी.

अमरित साहस से भर गया. चलकर गया कुएं के पास और जगत पर बैठा.

कोई डर नहीं. कोई झुरझुरी नहीं. कुएं के भीतर भी झांका. हवा के धीमे झोंकों के बावजूद पानी की सतह पर कोई सिलवट नहीं थी. बारिश ने सतह उंची उठा दी थी. अमरित ने हाथ डालकर पानी को छुआ. उंगलियां फैलाकर हथेली पतवार की तरह चलायी. पानी का खामोश कटाव...

बिजुरी जब कुएं में उतरी थी—गले में पांचसेरी पथरा बांधकर तो पानी की सतह इतनी ही ऊंची रही होगी. बिजुरी सीधी बैठ गयी होगी तली में. कुछ देर तक उसने सांस रोक रखी होगी. फिर अकुलाहट से उसके फेफड़े जंगली तीतर की तरह तड़पे होंगे... हवा की बजाय पानी भर गया होगा उनमें. और वह मर गयी होगी. बिजुरी का बीज मर गया होगा साथ-ही साथ.

अगर बिजुरी कुछ महीनों बाद पानी में बैठती, तो वह बीज धरती पर आ चुका होता... ऊंआं... ऊंआं...!

आत्मावलोकन

सारिका के रजत जयंती वर्ष के जनवरी प्रथम अंक से प्रारंभ इस स्तंभ में हम गत चौबीस वर्षों में सारिका में प्रकाशित प्रत्येक वर्ष की श्रेष्ठ कहानी का पुनर्प्रकाशन कर रहे हैं. इसके साथ ही हम कहानी पर एक वरिष्ठ रचनाकार की टिप्पणी भी आमंत्रित करते हैं. इस क्रम में प्रस्तुत है सारिका द्वारा आयोजित पहली कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार से सम्मानित कहानी जो सारिका के अप्रैल १९६३ अंक में प्रकाशित हुई थी. साथ में है इस कहानी पर हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार-पत्रकार हिमांशु जोशी की टिप्पणी.

अमरित चौंका. पास की झाड़ी से अचानक झींगुरों ने बोलना शुरू कर दिया था. चुप्पी में उनकी आवाज बहुत तीखी मालूम पड़ी. अमरित ने गहरी सांस ली. आकाश में बादलों ने बिजली लपलपायी. आसपास की हर चीजें सफेद हो गयी. फिर चप से काली पड़ गयीं. तुरंत मेघ गरजे और बरस पड़े. अमरित ने चेहरा ऊपर कर लिया—मुंदी पलकों पर बूंदें झेलने के लिए. मन की तपिश शायद शांत हो, इस तरह. अभी जो बिजली चमकी है, वैसी ही थी बिजुरी. सामने आती थी, तो आंखें चंधिया जाती थीं. क्या आंखें थीं. क्या नाक थी. क्या होंठ थे क्या गरदन थी. बोलती थी तो शहद झरता था.

पूरे कसबे में आग लग गयी थी जैसे, "अमरित बिजुरी लाया... चमचम बिजुरी... अरी देखा उसे?"... अमरित के अधकच्चे-अधपक्के मकान में तांता लग गया था लोगों का. उस दिन सबसे ज्यादा खुश था लल्लन.

बिजुरी घर में आयी थी, तो लल्लन खिल उठा था; अमरित गंभीर हो गया था. उसकी खुशी भीतर ही भीतर दब गयी थी, उस दिन. बिजुरी को लाने से पहले अमरित ने ढोल पीट रखा था. वह शादी करेगा ही नहीं. यह ढोल-पिटौवल कदापि झूठी न ठहरती अगर उस दिन उसने वह बात न सुन ली होती—खुद अपने कानों.

उस दिन वह रात बारह बजे घर लौटा था. प्रेस में ज्यादा काम होने के कारण वह साढ़े ग्यारह से पहले बाहर आ ही न सका था. बेफिक्र चाल चलता हुआ वह घर पहुंचा था, तो गांव के प्राइमरी स्कूल के चौकीदार ने पूरे बारह डंके बजाये थे.

अमरित और लल्लन—राम-लखन की जोड़ी—एक ही प्रेस में काम करते थे. वह प्रेस नन्हा-सा था जिसमें छोटे नमूने की बुढ़िया ट्रेडिल मशीन पोपली थरथराहट के साथ छपाई का बोझ संभालती थी. मशीन की जिस गोल प्लेट पर स्याही चुपड़ी जाती थी, उसके नीचे दांते लगे हुए थे. मशीन चलती, तो इन दांतों पर लोहे का एक टुकड़ा धक्का मारता और प्लेट घूम जाती. लोहे का टुकड़ा दांतों पर उछलता और बज उठता—ठननन्. उसी समय स्याही चुपड़ने-वाले तीन रोलर प्लेट पर आ जाते. घूमती प्लेट रुकती, रोलर चिट-चिट करते ऊपर जाते, फिर उसी तरह चिटचिटाते नीचे उतरने लगते.

इन आवाजों के साथ खटाक्-खटाक् की आवाज भी शुमार होती रहती, एक कागज छपता—खटाक्. दूसरा छपता—खटाक्! जिस तरह मगरमच्छ का मुंह खुलता और बंद होता है, उसी तरह मशीन का मुंह खुलता और बंद होता.

इस प्रेस का नाम 'जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस' था. जिसमें अमरित के बाप ने काम किया था और बाप के मरने के बाद उसके दोनों बेटे—

अमरित और लल्लन—भी यहीं से रोजी-रोटी का जुगाड़ करने लगे. अमरित के बाप ने यहां तरक्की नहीं की थी. जिंदगी भर वह कंपोजिटर बना रहा था. शाम को जब वह काम करके उठता तो स्टिक लगातार पकड़ी होने के कारण उसका बायें हाथ का अंगूठा दर्द से टूट रहा होता और दाहिने हाथ की उंगलियां कोयल की भांति काली पड़ गयी होतीं. कंपोजिंग स्टिक में दिन भर छापे के अक्षर बिछाते रहने के कारण उन अक्षरों का सीसा घिस-घिसकर उसकी उंगलियों को काला करता रहता. अकसर वह अपने दोनों बेटों को चेताता, "देख रे मुन्ने, किपोसीटर कभी ना बनबे. उंगरी मां सीसा लगथै, आमां जहर होथै. धिम्मै-धिम्मै सरीर मां आथै अऊर एक दिन मनखा खलास."

जब वह मौत की नींद सो गया, तो अमरित ने तय किया कि कंपोजिटर का काम न वह करेगा न लल्लन को करने देगा. वह प्रेस के मालिक के पास पहुंचा जो कसबे का सबसे धनी आदमी माना जाता था.

"किपोसींग ना करोगे, तो पईसा कहां से आही?" प्रेस के मालिक ने पूछा, तो अमरित को एकाएक न सूझा कि जवाब क्या दे. कंपोजिंग करके दिन भर में पांच-छह रुपये कमाये जा सकते हैं प्रेस में काम होते थे दो—या तो कंपोजिंग करो या ट्रेडिल मशीन चलाओ. मशीन चलाने में दिन भर हद मिलते थे ढाई. याने कंपोजिंग का आधा.

बाप मरने से पहले कानी कौड़ी भी छोड़कर नहीं गया था. अगर दोनों भाई मशीन चलाकर ढाई-ढाई कमायें, तो रोज के हुए पांच. दोनों का खर्च रोज तीन तक हो ही जाता था. यानी रोज की बचत दो रुपये—महीने के साठ. सालभर से साठ गुना बारह—हुए सात सौ बीस. अमरित अपनी शादी भले न करे लेकिन लल्लन की शादी जरूर होगी. और होगी भी धूमधाम से. लेकिन धूमधाम के लिए साठ गुना बारह के हिसाब से कब तक पैसा जमा हो पायेगा?

और यह भी क्या तय कि साठ गुना बारह की दर से रुपया जमा होता ही जायेगा? कभी बीमारी आ सकती है. कभी चोरी हो सकती है. घर में बीमारी आयी और सारा पैसा डाक्टर की जेब में. बीमारी जरा

लंबी चली और हो गया कर्ज. आजकल के डाक्टर? बाप रे, इलाज करते हैं या चमड़ी उतारते हैं. और अगर घर में आये चोर तो पैसे तो जायेंगे ही, ची-चपड़ की, तो छुरा निकल आयेगा.

चोरी से बचने का उपाय तो खैर मिल गया—प्रेस के मालिक ने ही बताया कि किसबे में अब पोस्ट आफिस खुल गया है, वहां रुपया जमा होता है. लेकिन बीमारी से बचने का क्या उपाय था? यही न की पैसे काफी हों?

लल्लन की शादी दो साल में हो ही जानी चाहिए थी. बड़े भाई के सामने वह गऊ बनकर भले रहता था लेकिन अमरित के पास कई बार शिकायतें पहुंच चुकी थी कि लल्लन ने यहां इसे छड़ा, वहां उससे यह किया. अमरित ने लल्लन को कभी डांटा नहीं था. उमर है, अभी रंग न रखेगा, तो क्या कमरिया झुकने पर रखेगा. तब तो और भद्द होगी. लेकिन छेड़-छाड़ भी ज्यादा दिन नहीं चलनी चाहिए.

शादी होगी लल्लन की—दो साल से पहले ही होगी. अमरित ने प्रेस के मालिक से कहा, "अईसा करो. किपोसींग मेरा जिम्मा लेकिन लल्लन को मशीन मां लगा दो. कम कमाई कोई बात नहीं. खतरे से दूर रहही.

अगले दिन लल्लन ट्रेडिल मशीन चला रहा था, तो आंखों में खुशी का उजाला लिये अमरित पास जाकर खड़ा हो गया. लल्लन ने बड़ भाई की ओर देखा और मुस्कराया. ट्रेडिल चलाने का लोहे का ह· जमीन के पास हिल रहा था. लल्लन हत्थे पर पांव रखकर ऊपर · नीचे झटके दे रहा था, जैसे एक पैर से सिलाई की पांव-मशीन चला हो. जबड़ा मगरमच्छ के जबड़े की तरह खुल और बंद हो रहा था. ज्यों ही जबड़ा खुलता, मशीन में ही लगी एक ऊंची तख्ती पर बैठा मनसुखा अपना हाथ जबड़े में डाल देता. वह अंगूठे और उंगलियों से कागज़ का एक कोना पकड़े होता. सांप के जैसी फुरती से वह कागज को जबड़े में लगी पिनों के सहारे अटका देता. तुरंत जबड़ा बंद होता. मनसुखा हाथ बाहर खींच लेता. स्याही वाले रोलर नीचे से ऊपर चढ़ते. सामने के जबड़े पर जो छापे के अक्षर—उंगलियां काली कर देने वाले जहरीले अक्षर जड़े होते–, उन पर ये रोलर स्याही चुपड़ देते. फिर ठनठनाती प्लेट पर चिटचिटाने लगते—नये सिरे से स्याही बटोरने के लिए दोनों जबड़े एक-दूसरे से चिपकते. बुढ़िया ट्रेडिल खटाक करती हुई झुरझुरा उठती. छापे के अक्षर कागज पर छपते. तुरंत मशीन का मुंह खुल जाता. खुले मुंह में लल्लन हाथ डालता और छपा कागज बाहर खींच लेता. इसके साथ ही मनसुखा का हाथ नया, कोरा कागज पिनों के सहारे अटका देता.

"अरे लल्लू," वह चीख पड़ा, "मारेगा क्या? धिम्मे चला भड़वे."

हत्थे पर पांव रखकर हुमचते लल्लन ने फ्लाई ह्वील में इतनी तेजी भर दी थी और उस तेजी के कारण मशीन का जबड़ा इतनी जल्दी-जदी खुल और बंद हो रहा था कि मनसुखा पिनों के सहारे नये-नये कागज न अटका सका था. मनसुखा को हरा दिया हो, इस अदा से लल्लन मुस्कराया. मनसुखा ने उसे बहन की गाली दी. लल्लन ने हत्थे पर से पांव हटा दिया. लेकिन फ्लाई ह्वील की गति के कारण हत्था ऊपर-नीचे होता ही गया, मानो सलाम दे रहा हो.

मनसुखा तख्ती ते नीचे उतरा. उसके कपार पर पसीने की बूंदें उभर आयी थीं. ट्रेडिल मशीन का ब्रेक दबाकर उसने फ्लाई ह्वील रोका फिर उंगली से कपार का पसीना पोंछकर नीचे टपकाया.

"कितना जादू होथैं छपे की मशीन मां." अमरित ने प्रफुल्ल स्वर में कहा, "किपोसीग का काम तो बड़ा किल्लत का है. दिन भर स्टिक मां टाइप बिठाते रहो. . .सीसा छूते रहो."

"सबमी को दुस्सर काम अच्छा लगथैं. तुम सीसा छूते हो, लेकिन हियां तो हमें मशीन के मुंह मां हाथ डालना पड़थैं. एक सिकंड की देरी अऊ हाथ भित्तर. कागज के बदले जब हाथ पर दाब पड़थै तो हड्डी का चूरा-चूरा हो जाथै का समझे? जिंदगी भर के लिए बेकार."

मनसुखा नंगे फर्श पर चित लेट गया. उसने केवल एक ढीला जांघिया पहन रखा था जिस पर लाल, नीली, काली आदि छपाई की स्याहियां लगी हुई थीं. उसका पूरा शरीर पसीने से तर था. मानों तेल लगाया गया हो. उसकी पलकों पर, कपार पर और गालों पर स्याही के दाग थे. जमीन पर चित पड़ा वह यों लग रहा था, मानों ट्रेडिल का ही एक पुरजा अलग होकर गिर गया हो. अमरित ने लल्लन को दस पैसे दिये और कहा, "तै थक गया होही. जा, चा पी आ."

जब लल्लन बगल के टूटे-फूटे, कसबे के इकलौते होटल की ओर चला गया, तो अमरित आकुलता से मनसुखा पर झुका, "सच्ची बता, किपासिंग से मशीन चलाना जाया खतरनाक हवै?"

"यह भी खतरनाक, वह भी खतरनाक." पथरीले चेहरे के साथ मनसुखा ने कहा—उसी तरह चित लेटे-लेटे.

"तो मैं. . .तो मैं लल्लन को वापिस किपासींग मां डाल दूं? मनसुखा हंस पड़ा और उठ बैठा—"लल्लन को कईसा खतरा? खतरा तो मुझे हवै.!"

"क्यों?"

मनसुखे ने समझाया कि लल्लन मशीन के जबड़े में हाथ तब डालता है, जब वह खुल रहा होता है. छपने के लिए जबड़े के पैड पर नया, कोरा कागज अटकाना मनसुखा का काम था खतरा तो इसी में था, क्योंकि तब जबड़ा बंद होता था. अमरित को तसल्ली मिली और जब वह अपने बारह पाइंट मोनो टाइप केस के पास जाकर कंपोजिंग करने लगा तो उसकी उंगलियों को बिल्कुल डर न लग रहा था कि वे सीसे की छुअन से काली हो रही हैं. कुछ देर बाद लल्लन चाय पीकर लौट आया और फिर से ट्रेडिल के हत्थे पर हुमचने लगा. . . ठननन खटाक.

दो दिन बीते कि रात को लल्लन घर पहुंचते ही खाट पर फैल गया और शिकायत करने लगा, "मेरे पांव में पीड़ा होत हवै."

अमरित ने चौंक उसकी ओर देखा. मकान में लालटेन ने उदास पीलापन फैला रखा था. उत्साह-ही-उत्साह में लल्लन ट्रेडिल इतनी देर तक चलाता रहा कि उसके पैर की नसें तन गयी थीं. अमरित ने कड़वा तेल गरम करके उसके पैर पर मालिश की, तब कहीं वह नींद ले सका.

लेकिन अमरित को देर तक नींद न आ सकी. उसने लालटेन बुझायी इस आशा से कि अंधेरा नींद लाने में सहायक रहेगा. लेकिन अंधेरा तुरंत आशंकाओं का दोस्त हो गया. प्रेस में काम करने वाले दो-एक परिचितों ने अमरित को बताया था कि कुछ सालों तक लगातार ट्रेडिल चलायी जाये, तो पांव की नसों में गठानें पड़ जाती हैं. क्या उलझी नसें ही लल्लन का भविष्य हैं? अमरित को बहुत बुरा लगा. उसे अपनी चिंता नहीं थी. जिसे शादी न करनी हो उसके पैर में गठानें पड़ें या सीसे का जहर आंखों की रोशनी धुंधली कर दे, क्या फर्क पड़ता है!

हां, सचमुच शादी नहीं करनी थी अमरित को. वह पैसे कमाना चाहता था—खूब, केवल लल्लन के लिए. आज के मंहगे जमाने में दो की कमाई से चार खुश-खुश नहीं रह सकते, तीन जरूर रह सकते हैं—खुद वह, लल्लन और लल्लन की डौकी.

लल्लन को पैदा करके दो साल बाद दोनों भाइयों की मां स्वर्ग सिधार चुकी थी, लेकिन अमरित को कभी न लगा कि मेरी मां नहीं है. उसने महसूस किया तो केवल यही कि मां लल्लन की नहीं है. लल्लन उसे दुखियारा मालूम पड़ता और भोला और बहुत प्यारा-प्यारा.

अमरित ने चाहा कि लल्लन ट्रेडिल न चलाये और यह भी चाहा कि वह कंपोजिंग न करे, लेकिन लल्लन करे क्या, यह उसे सूझ न पाया. अंत में इस मधुर निर्णय के साथ उसकी आंखें मुंदी कि उसे लल्लन के लिए जल्दी-जल्दी डौकी का इंतजाम कर देना चाहिए.

जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस की बुढ़िया ट्रेडिल रोज ठनठनाती और कंपोजिंग स्टिक में 'रामा बीड़ी पीजिये' के टाइप बिठाता अमरित चौंक-चौंक जाता. मशीन-रूम में ट्रेडिल के हत्थे पर हुमचता लल्लन उसे दिखाई पड़ता . . . ठननन खटाक . . ! उलझती नसें . . .

लल्लन के मना करने पर भी रोज अमरित उसके पांव पर मालिश करता लेकिन कहां डौके के बरछट हाथ और कहां डौकी की मुलायम-मुलायम उंगलियां, गदरायी गर्म हथेली और मिट्ठी-मिट्ठी बतियां. बड़े भाई के मालिश करने के बावजूद, हो सकता है नसें उलझ जायें, लेकिन गदरायी गर्म हथेली की मालिश हो तो मजाल क्या है नसों की जो. . .

डौकी. . . लल्लन के लिए डौकी. . . लेकिन खुद अपने लिए? अमरित की दुखती उंगलियों और कड़कड़ आवाज करती रीढ़ की हड्डी के लिए?

अरे मां. अमरित पूरब, शादी पच्छिम. अट्ठारह साल अकेले गुजर गये और पैंतीस में तो हिंदुस्तान का आदमी बूढ़ा होने लगता है. अट्ठारह गुजरे हैं, तो आगे भी गुजर जायेंगे. लेकिन देखो लल्लन को, कैसा पट्ठा है. है बाईस साल का, लगता है. . .अहहा, पूरे पच्चीस. . .पच्चीस का.

डौकी. लल्लन के लिए डौकी. . .

मत आओ अमरित के पास, मत करो शिकायतें लल्लन की. अच्छा जी, तो लल्लन ने आपकी लौंडिया को छेड़ा? दुरं. . . छेड़ा, तो क्या हुआ? खा तो नहीं गया. . . छूठ. . . अभी ना छेड़ेगा, तो क्या डोकरा (बूढ़ा) होने पर छेड़ेगा? जाओ. . . जाओ, घर जाओ, बुरका पहनाओ लौंडियों को. . . क्यों देखती हैं, मेरे भैय्यन की तरफ?

डौकी. . . लल्लन के लिए डौकी. . .

शाम को प्रेस की मोरी के पास उकडूं अमरित साबुन रगड़-रगड़कर उंगलियों का काला सीसा साफ करता और पुकारता लल्लन को, "इधर आ भैया. जादा तो नहीं थका?" फिर देखता लल्लन के होंठों के ऊपर, नाक के नीचे मूछों का घनापन बढ़ रहा है. आंखों में कजरा डाला है क्या? घर में तो कजरा है नहीं. . .

गया अमरित प्रेस के मालिक के पास, "साब ओरटेम करहौं."

लेकिन प्रेस छोटा था और कसबे में था. दिन के काम के बाद रात के लिए भी काम न बच पाता था. मालिक ने मुंडी हिला दी, "ना. . . ना."

गया अमरित एक गौटिये (साहूकार) के पास, "साहजी, खेत की चऊकीदारी करहौं. रात भर जगहौं."

काम मिल गया. दिन भर प्रेस में कंपोजिंग. थोड़ा खाया-पीया, लल्लन की मालिश. फिर दो घंटे नींद. फिर चौकीदारी. सुबह साढ़े पांच बजे वापसी. सवा नौ तक नींद. फिर जल्दी-जल्दी नहाओ और जल्दी-जल्दी लल्लन का पकाया खाओ और जल्दी-जल्दी पहुंचो प्रेस. दस बजे. दस बजे से एक मिनट भी देर हुई तो मालिक की बोट्टा-बोट्टा आंखें निकल आती हैं.

डौकी. . . लल्लन के लिए डौकी.

लल्लन खाना पकाता है—सुबह भी, शाम भी. लल्लन क्यों पकाये खाना?? डौके का काम कमाना, डौकी का काम पकाना. डौके का काम खाना. आ जायेगी डौकी. . . जल्दी आयेगी. अब्बी हमारा घर कोई घर है! बिना डौकी का घर मस्सान. आयेगी डौकी. . .जल्दी आयेगी. तब घर में जाला ना होगा. उजाला होगा. उज्जाला.

घर में दो कमरे हैं. एक में रहेगा लल्लन—अकेला नहीं, दुकेला. दूसरे में रहेगा अमरित–अकेला. कान लगाकर सुनेगा, लल्लन की डौकी कह रही है, "गोड दुखता है? पिराता है? लाओ, दाब देवौं. उंगरी पिराती है? लाओ खैंच देवौं—टचाक्क. दूसरी उंगरी—टचाक्क. हाथ की चूड़ी खनकेगी. कब्भी-कब्भी चार होंठों की चस्स भी आ जायेगी अमरित के कानों तक.

बुरी बात. डौका-डौकी की बातें सुनना सच्ची में ओछी बात. कौन कहता है ओछी बात? लल्लन हमारा गैर, क्यों? लल्लन हमसे छिपाता क्यों? समझथौ लल्लन को? बोला. . .बोला समझथौ क्या लल्लन को?

लल्लन की डौकी खाना पकायेगी. जब सामने परसेगी तो सोंधी-सोंधी भाप उठेगी. नाक में जायेगी. अमरित को अपने आप हंसी आ जायेगी. और वह देखने लगेगा लल्लन की तरफ. तब लल्लन आंखें चुरायेगा. और रोकेगा. . . रोकेगा. . . रोकेगा और मुस्करा ही देगा.

पूरे साल के दिन बीत गये और रातें बीत गयीं. लेकिन उतने रुपये जमा न हुए जितने कि शादी की धूमधाम के लिए होने चाहिए थे. खेत की चौकीदारी का काम नियमित न मिला था. बीच में अमरित को मलेरिया भी हुआ. उसके बाद पेट में गड़बड़ी हो गयी. टेम बचाने के लिए अगर कोई खाना भी गड़ाप-गड़ाप खाये और दिनभर काम करके रात को सोये भी ना तो बाब्बा, मनखा मशीन थोरा ही है.

डौकी. . . लल्लन के लिए डौकी. . .

जल्दी आयेगी. . .

गया अमरित दाऊ (भूतपूर्व जमींदार) के पास, "सरकार, माई-बाप, करजा मांगथौं. लल्लन के लिए दुल्हनिया लानी हवै. साल भर में चुकता करहौं."

"छोटे भाई को सुख से रखना हूं—सारी कमाई उसी को देनी हूं, इसी से अकेला हूं. उल्लुओ, गधो, इतना भी नहीं समझथो? क्या खाके अफवा उड़ात हो? एं? मैं सादी के लायक नहीं? मेरा बच्चा न होही? एक बार अपनी बहन को लाकर तो. . ."

करीब हजार जमा किया था. पांच सौ उधार लिया. खर्च तो कई हजार करने थे, लेकिन कई हजार जाने कब जमा हों. तब तक लल्लन अकेला थोड़े रह सकता है. डेढ़ हजार में भी काफी धूम हो गयी. मनसुखा ने ढोलकी पर वो बढ़-बढ़कर लकड़ी चमकायी. . . कड-कड कड़ाक. तड-तड तड़ाक. और मनसुखा के उस दोस्त ने वो वाला जो फिल्मी गाना गाया न वही पंजाबी गाना. . .'कि मैं झुठ बोलियां? कि मैं जहर घोलियां?' उसने तो आल्हा, समा ही बांध दिया और जब लल्लन घोड़ी पर चढ़ा तो अनार इतने ऊंचे तक छूटे मानो आकाश ही छू लेंगे.

इस तरह घर में आ गयी छमिया. पैर में घुंघरू बांध छम-छम करती घूमती इधर-उधर खाना पकाती, जाले झाड़ती और रात को कमरे के उधर से अमरित उन दिनों की फुसफुसाहटें सुनता. दो-तीन दिनों में एक बार चस्स जरूर आ जाती अमरित के कानों तक, हांलाकि उसे विश्वास था, दोनों इस मामले में बहुत सावधान रहते हैं.

छमिया को सुसराल आये तीन सप्ताह बीते और मनसुखा नोकरी छोड़कर चला गया. उसे शहर के एक बड़े प्रेस में सिलिंडर मशीन का काम मिल गया था. जाते-जाते उसने अमरित से कहा, "सिलंडर मसीन मां कागज लगाना ज्यादा खतरनाक नहीं होथैं. आमां (उसमें) मसीन के मुंह के भीतर हाथ डालना नहीं पड़थैं. आराम से तख्ती पर बइठे रहो और एक-एक कागज किलिप में फंसाते रहो. अपने आप कागज भीतर जाथैं अऊर गोल सिलंडर के ऊपर चढ़के छपथैं."

उसने विस्तापूर्वक समझाया कि सिलिंडर मशीन भनभन नहीं करती, घरघर करती है और उसमें छप चुका कागज हाथ डालकर निकालने की जरूरत नहीं होती. कागज अपने आप निकलकर थप्पी में लगता जाता है. अमरित ने कभी सिलिंडर देखी नहीं थी, अतः सारी बातें तो उसके दिमाग में न आयीं, लेकिन इतना वह जरूर समझ गया कि ट्रेडिल की बजाय सिलिंडर में खतरा कम होता है, उसने बड़ी आजिजी के साथ कहा, "मनसुखे, हमार लल्लन को भी सिलिंडर मशीन वाली

नौकरी दिलवा दो ना?"

मनसुखा ने पूरा विश्वास दिया कि यह वह कोशिश करेगा. इसके बाद वह अमरित को एक कोने में ले गया और पथरीले चेहरे पर जरा भी झिझक उभारे बिना पूछने लगा, "छोटे भाई ने सादी रचा ली और बड़ा भाई इकल्ला?"

अमरित वही चिरपरिचित मुस्कान मुस्कराया और बोला, "सादी करके मैं क्या करहों! छोटे की होगी, बहुत हुवै."

"लेकिन तुम्हें एक बात मालूम हुवे?"

"क्या?"

"कसबे में तुम्हारे बारे में क्या अफवा उड़ी है?"

"अफवा? कैसी अफवा?"

"यही की तुम. .. तुम. . . "

"बोला ना?"

"कि तुम सादी के लायक नहीं हो."

"क्या मतलब?"

"सादी करोगे तो बच्चा ना होही."

मनसुखा चला गया था और फूस में जलती तीली फेंकता गया था. अफवा. . . बच्चा ना होही. . . लोगों को और कुछ सूझता नहीं है क्या? जबान कैसे उठती है साल्लों की! देखा ना सुना, उड़ा दी अफवा—बच्चा ना होही! .

छोटे भाई को सुख से रखना है—सारी कमाई उसी को देनी है. इसी से अकेला हूं. उल्लुओ, गधो, इतना भी नहीं समझथो? क्या खाके अफवा उड़ात हो, एं? मैं सादी के लायक नहीं? मेरा बच्चा ना होही? एक बार अपनी बहन तो लाकर तो. . .

जाग रहा था पशु—कटे चांद जैसे सींगों वाला, गरम-गरम सांस छोड़ते नथुनोंवाला, खुरों से धूल उड़ाने वाला हुह. . हुह. . फर्रर्रर. हट जाओ. . . हट जाओ!

आंखों का रंग बदल गया—लाल-लाल रहती. भाव भी बदल गये—कहां पहले की निखल्लिस आंखें, कहां अब की कठोर आंखें. शिकायत करती, चुनौती देती, 'खाऊं-खाऊं' करती आंखें.

मनसुखा के जाने के बाद अब कभी-कभी ट्रेडिल पर अमरित को बैठना पड़ जाता था. वह सुबह दस से बारह तक ट्रेडिल चलाता था, क्योंकि जो नया मशीन मैन आया था. वह फुल टेम नहीं था. वह सुबह दस से बारह तक ट्रेडिल चलाता था. उसके बाद साइकल पर सवार हो सात मील दूर के शहर में जाकर दो से दस तक सिलेंडर मशीन पर काम करता था. उसकी कमाई बहुत थी, क्योंकि अच्छे मशीनमैन को अब मुंहमांगे पैसे मिलने लगे थे. कई बार अमरित को उससे जलन होती, लेकिन मेहनती होने के नाते वह उसकी इज्जत भी करता था. बारह बजे जब वह चला जाता तो जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस की ट्रेडिल खाली पड़ी रहती. अमरित के रहते लल्लन से कंपोजिंग नहीं करवायी जा सकती थी. अत: बारह के बाद शाम तक वह दीवार से टिककर ऊंघता रहता. पूरी तनखा भी दो और काम न लो, यह प्रेस के मालिक से सहन न हो सकता था. मशीनमैन की बनिस्बत कंपोजिटर ज्यादा आसानी से मिल जाते थे. उसने एक फुलटेम कंपोजिटर ढूंढ ही निकाला. अब ट्रेडिल बारह के बाद भी अकसर चल पड़ती. धीरे-धीरे अमरित का हाथ बैठ गया. सूखे जबड़े में वह पिनों के सहारे झट-झट कागज लगाता जाता, हत्थे पर झूमता. लल्लन उसे उठाता जाता.

अमरित को प्रेस मालिक पैसे उतने ही देता था, चाहे वह कंपोजिंग करता, चाहे ट्रेडिल चलाता. जोखिम का काम होते हुए भी अमरित ने मालिक के दबाव के कारण शुरू किया, फिर वह उसका शौक हो गया और उसके बाद नशा.

हां. . .नशा.

घूमता फ्लाई ह्वील चिटचिटाते रोलर, ठनठनाती इंक प्लेट और कागज पर छपाई की हर दाब के साथ झुरझुराती बुढ़िया ट्रेडिल. . .खटाक् साले. अफवा उड़ात हो. . . खटाक् और कोई काम नहीं हुवै. . . खटाक् . . . मैं सादी के लायक नहीं. . . ?खटाक्. . . मेरा बच्चा ना होही ठननन खटाक्. . . ला स्साले, अपनी बहन ला, खटाक. ठननन खटाक्.

छमिया जब सोंधी-सोंधी भापवाला खाना परसती तो अमरित के मन में कैसा-कैसा होने लगता. लालटेन बुझाकर वह रात-रातभर जागता रहता. बुझी लालटेन के कारण भाई को सो चुका समझ उधर अपने कमरे में लल्लन आजाद हो उठता. और जब बांहों से पिसने की, होंठ चूसने की लरजती सिसकारियां सुनाई पड़ती तो अमरित का माथा फटने लगता. जी करता, अभी दौड़कर प्रेस में पहुंच जाये और ट्रेडिल का फ्लाईह्वील बुरी तरह घुमाने लगे. खटाक्—ठन्न, खटाक् ठन्न.

शायद इन अंगारों पर समय बीतते राख चढ़ जाती और जिंदगी पुरानी रफ्तार से ही चलने लगती, लेकिन एक दिन अमरित के विश्वास और दिलासे का आखिरी धागा भी टूट गया. पीठ पीछे और कभी-कभी

सामने ही मुस्कराते लोगों के चेहरे क्या मानी रखते थे, अमरित भली तरह बूझता था, लेकिन अक्सर वह यह सोचकर टाल जाता कि दुनिया की ऐसी-तैसी, मेरा लल्लन तो मुझे आदमी समझता है न. बस, और कुछ नहीं चाहिए मुझे.

उस दिन प्रेस में काम ज्यादा था. शाम पांच बजे तक ट्रेडिल धोप-लाती रही थी, जिसके बाद लल्लन को घर विदा करके अमरित ने कंपोजिंग शुरू कर दी थी. साढ़े ग्यारह बजे पेट्रोमैक्स बुझाकर जब वह वह प्रेस के नीची छत के मकान से बाहर आया था तो 'ओरटेम' की कमाई के सिक्के उसकी कल्पना में नाच रहे थे, जो उसे कल शाम मिल जाने वाले थे. दो दिन बाद कसबे में एक टूरिंग टाकीज आने वाली थी, जिसमें 'राधाकृष्ण' फिल्म दिखायी जाने वाली थी. उसी के परचों का 'इरजंट मैटर' आज कंपोज करना था और कल ट्रेडिल पर चढ़ा देना था. साढ़े ग्यारह तक कंपोजिंग का काम खतम हो गया था. सुबह परचे छप जायेंगे, इसमें कोई शक नहीं था. कल दस की बजाय साढ़े नौ से ही लल्लन हत्थे पर झूमने लगेगा.

बेफिकरी की चाल चलता वह घर पहुंचा तो गांव के प्राइमरी स्कूल में चौकीदार ने पूरे बारह के डंके बजाये.

उसने अपने कमरे का दरवाजा बड़ी खामोशी से खोला ताकि बगल के कमरे में लल्लन-छमिया को कोई खलल न पहुंचे. भीतर जाकर वह यों खड़ा रहा ताकि अंधेरे में दिखाई पड़ने लगे. जब दरवाजा मूंदकर वह चटाई पर लेटा तो गहरी सांस भी उसने बहुत हलके-हलके ली. बीच की दीवार में छत के पास एक छोटी-सी खिड़की थी, जिसमें से स्पष्ट स्वर इधर की ओर तैरे. अमरित ने उन्हें पकड़ने की कोशिश की. जब से मनसुखा उसे वह बताकर गया था, अमरित को शब्दों की चोरी की और ज्यादा आदत पड़ गयी थी. कई बार वह लेटा न रह पाता. उठकर दीवार के पास जाता और कमर थोड़ी दूर झुकाकर कान लगाता हुआ सुनता. आज भी वह चुपके से उठा और दीवार के पास जाकर खड़ा हो

गया—अंधेरे में बुत की तरह.

"ए जी, सुनो. . ." छमिया का स्वर.

"हूं. . ."

"जेठ जी सादी क्यों नाहीं करथैं?"

"तुम्हें नहीं मालूम?"

"मालूम तो हवै लेकिन तुमसे भी पूछथो."

"क्या मालूम हवै?"

"यही कि . . .यही कि. . .वो सादी के वास्ते ठीक नहीं . . ."

"मुझे नहीं मालूम."

"सब तो यही कहथै."

"सब कहथैं तो मैं क्या करौं. काला-काला (किस-किसको) रोकौं?"

"लेकिन ये बात सच्ची है या नहीं?"

"मुझे नहीं मालूम. मैं बड़े भैया से पूछे थोड़े न हों." लल्लन के स्वर में झुंझलाहट थी. कुछ देर तक मौन छाया रहा. सनसनी बढ़ती रही.

सचमुच शादी की अमरित ने और ले आया बिजुरी को. शादी में खर्च कम से कम किया. जिसकी शादी में ज्यादा खर्च होता उसकी शादी में हो चुका था. अमरित शादी थोड़े ही कर रहा था. वह तो ला रहा था औरत. औरत. . . जो जल्दी से जल्दी बच्चा जने, जिस तरह गाय बछड़ा जनती है, मुर्गी अंडे देती है.

"छमिया. . ."

"आं?"

"देख, लोग कहत हैं. मुझे भी वो सच्चा मालूम पड़थै, लेकिन किसी के सामने तैं जबान ना खोलबै. समझी!"

छमिया खामोश रही.

"समझी कि नहीं?"

"हां, सो जा."

छमिया सो गयी या नहीं, अमरित न जान पाया, लेकिन उस सारी रात वह करवटें बदलता रहा—तवे में भुनती अधमरी, अधजिंदा मछली की तरह, फुसफुसाहट का वह अंश रात भर अंधेरे में काले भौंरे की तरह गों-गों करता रहा—मुझे भी वो सच्चा मालुम पड़थै. . .मुझे भी सच्चा. . .मुझे भी. . .

अगले दिन फ्लाई ह्वील घूम रहा था. ले साल्ले—खटाक् तेरी बहन को. . .खटाक् तेरी मां को. . .खटाक् तेरी बेटी को. . .खटाक्. . .

इतनी गंदी गालियां?

इतने अच्छे अमरित के मन में?

"लल्लन, मशीन जोर से चला. . .अऊर जोर से."

"भैया, आज आपको क्या हो गे हवैं?"

"होगा क्या खाक, मैटर इंरजट हवै. . .जोर से चला."

"और जोर से ना चलही."

घूमता फ्लाई ह्वील चिचिया उठा—मशीन में इतना कड़ा ब्रेक, अचानक अमरित ने शायद ही कभी लगाया हो. बूढ़ी ट्रेडिल का एक-एक पुरजा विरोध में धड़धड़ा उठा. अगर प्रेस का मालिक बाहर न गया होता तो ऐसे ब्रेक के लिए जरूर वह अमरित को मोटी आंखें दिखाता.

लल्लन इन बरताव का कारण न समझ पाया और रुआंसा हो गया. उसके मरियल चेहरे को देखकर अमरित को क्रूर आनंद मिला. वह मुस्कराया, "अच्छा, धीरे चला." गुस्से का दूध उबलकर नीचे बैठने लगा था और कुछ देर में उस पर मलाई की पर्त भी आ गयी.

लेकिन हर रात जो यह घिनौना भौंरा गों-गों करता है, उससे पिंड कैसे छुड़ाया जाये? एक ही उपाय सूझ सका अमरित को. कर ली जाये शादी. ऐसी की तैसी लोगों की. और शादी करके पहले साल ही. . .

और नहीं तो क्या ये साल्ले लोग यूं थोड़े ही मानेंगे.

जिस रात अमरित ने शादी कर ही लेने का निर्णय किया, उसी रात करीब साढ़े चार बजे एक घुरघुसरा उल्लू उसके कमरे में आ गया. दरवाजा बंद था, अत: वह खिड़की से आया होगा. करीब डेढ़ बीते के इस उल्लू की मनहूस खासियत अमरित खूब जानता था. एक बार घरघुसरा घर में घुसा कि निकालना मुश्किल. इधर से उड़ाओ, उधर बैठेगा, इधर बैठेगा. चिढ़ा-चिढ़ाकर अधमरा कर देगा मनसे को. उसके बाद भी मन हुआ तो जायेगा. न मन हुआ, न जायेगा, अंधेरे में टुकुर-टुकुर ताकेगा. बोलेगा कुछ नहीं. मानो अपनी चुप्पी से जताना चाहता हो—'हुंहूं, सब जानता हूं. . .हुंहूं सब समझता हूं. . .हुंहूं. . .'

चार बजे के लगभग परेशान अमरित को नींद आ पायी थी और साढ़े चार बजे घरघुसरे की उड़ानों ने छत से उसके चेहरे पर फूस गिराकर जगा दिया था उसे. ज्यों ही उसने आंखें खोली थीं, घरघुसरे की गोल-गोल आंखें दिखाई पड़ी थीं और उसके मुंह से अपने आप गंदी गाली निकल गयी थी. गालियां बकना अब उसके लिए किसी को पुकारने से ज्यादा महत्वपूर्ण न रहा था. उठकर उसने लालटेन जलायी. गांव के मुर्गे बांग दे रहे थे. लालटेन की रोशनी में उसने घरघुसरे की ओर बाहें उठायीं. वह केवल बाहें हिलाकर घरघुसरे को हकालना चाहता था, क्योंकि कुछ बोलने पर—घरघुसरे को डांटने पर—संभव था, दूसरे कमरे में लल्लन और छमिया जाग जाते. अमरित नहीं चाहता था, उसके कमरे में घरघुसरे के आने के बारे में कोई जाने. घरघुसरे का आना अच्छा थोड़े ही था.

लालटेन उसकी पीठ की ओर जल रही थी. दीवार पर उसकी बड़ी-सी परछाईं बन रही थी. इस परछाईं के दोनों हाथ घरघुसरे की ओर उठ-उठकर गिर रहे थे. दीवार और छत के बीच में घुसा हुआ था घरघुसरा, जो न परछाईं से डर रहा था, न परछाईं बनानेवाले से. चुपचाप घूरता रहा था वह—हुंहुं. . .सब समझता हूं. . .हुंहुं. . .सब जानता हूं. . .?

हारकर अमरित ने लालटेन बुझा दी. दीवार की परछाईं मिट गयी . . .अंधेर घुप्प. . .सिर से पांव तक चादर ओढ़कर वह लेट गया. अब घूरता रहे घरघुसरा. . .कैसे घूरेगा. घूरेगा तो चादर को घूरेगा. और अंधेरे में चादर भी उसे साफ नजर थोड़े ही आयेगी.

सुबह अमरित ने सिर पर से चादर हटायी तो घरघुसरा चला गया था.

सचमुच शादी की अमरित ने और ले आया बिजुरी को. शादी में खर्च कम से कम किया. जिसकी शादी में ज्यादा खर्च होता उसकी शादी में हो चुका था. अमरित शादी थोड़े ही कर रहा था. वह तो ला रहा था औरत. औरत . . .जो जल्दी से जल्दी बच्चा जने, जिस तरह गाय बछड़ा जनती है, मुर्गी अंडे देती है.

और बिजुरी ऐसा न कर पायी. साल बीत गया. जिस गौंटिये से रुपये उधार लिये थे, वे चुकता कर दिये गये.

छमिया की गोद भर गयी थी. फूल-सी बच्ची को जन्म दिया था उसने. लल्लन की छाती गज-गज फूल आयी थी. "मेरी टुरी. . .मेरी टुरी. . .अरी ओ भौजाई, देख तो आके यह कइसे रोती है—ओंआं. . . चोंआं. . .पोंआं. . .अरी ओ छमिया, कहां चली दी, उठा ले इसे. . .अरी, दूध पिला इसे. . ."

अमरित अकेला बैठा था अपने कमरे में. उधर लल्लन ने 'अरे ओ भौजाई, देख तो आके. . .' कहा था और इधर अमरित ने मन ही मन छुट्ट गाली दी थी, "मरे तू, मरे तेरी भौजाई."

उस दिन प्रेस की ट्रेडिल सुबह से शाम तक लगातार चलती रही थी. ठननन खटाक ठननन खटाक्. और जब शाम घिरी थी तो लल्लन को घर भेजकर अमरित चला गया था वहां, जहां से हर थका दिमाग थिरकता हुआ बाहर आता है. रात को ज्यों ही अमरित ने बिजुरी को गोद में खींचा था, वह भयभीत फुसफुसाहट से बोल उठी थी, "तैं शराब पी हस!"

कुछ भी न कहा था अमरित ने, मानो मौन स्वीकृति दे रहा हो. तुरंत उसने अपने होंठ बिजुरी पर दबा दिये थे—कहां दबाये थे. उसे होश नहीं था. और जब उसने होंठ उठाये थे तो जोर की 'च्च' आवाज की थी—जान-बूझकर.

अमरित के चुंबन बहुत खामोश हुआ करते थे. पहली रात को भी वे इतने संयत थे कि बिजुरी को आश्चर्य हुआ था.

आज...?

आज वह पीकर आया था और बस्सा रहा था.

दूसरी बार भी जब 'च्च' की आवाज की तो बिजुरी बिफर गयी. शराब की बू से उसे पहले ही घिन हो रही थी. बोली, "अईसा करबे तो उठ जाहूं."

जवाब में अमरित ने फिर से 'च्च' किया और उसे लोहे की बाहों से इतनी बुरी तरह दबोच लिया कि रोकते-रोकते भी उसके गले से हलकी चीख निकल गयी. अमरित संतोष से हंसा.

बिजुरी शर्म के मारे पिघलती जा रही थी. उधर लेटी छमिया क्या कहेगी सुन-सुनकर? साल भर बाद आज जागा है जंगलीपन. लल्लन क्या सोचेगा?

"क्या करत हो? पागल तो नहीं होगे?"

अमरित ने उसकी साड़ी चर से फाड़ी थी. खामोशी में यह आवाज कितनी बड़ी, डरावनी लगी थी. अमरित ने बिजुरी की नाक पर मोटी फूंक मारी. शराब की बू! आक्! अभी कै हो जायेगी बिजुरी को.

अमरित फिर से हंसा—इस बार काफी स्पष्टता से—"हहह..." फिर लगा वह उसे चूंथने, मानो कूड़े के ढेर को उलट-उलटकर फल की तलाश कर रहा हो. बिजुरी से सहन न हो सका. उसने अमरित को बुदबुदाते सुना—"लल्लू बस-बस नहीं करथें? वा आदमी, मैं आदमी नहीं हौं." और उसने नया चुंबन लिया—चच्च.

बिजुरी खाट से उठने लगी तो तड़ाक हाथ चला दिया अमरित ने. हाय करती बिजुरी दीवार से टकरायी. आंसू झरने लगे झरझर. उसने साड़ी मुंह में ठूंस ली—जान निकल जाये, पर आवाज न निकले. अमरित खाट से उतरा. बाल पकड़कर उसने बिजुरी को उठाया और पेट के कोमल मांस में मुक्का मारा.

"उंघ..."

इसके पहले बिजुरी कुछ समझ पाती, वह चीख पड़ी, "लल्लन! लल्लन!"

अंधेरा...

अं...धे...रा..."

"ऊंआं...ऊंआं...ऊंआं..."

बिजुरी की दर्दनाक टेर से दीवार के उधर बच्ची चौंककर रो पड़ी थी. किसी ने तुरंत उसका मुंह बंद किया, लेकिन वह रोती रही.—घुटा रुदन!

तो उस कमरे में छमिया और लल्लन जाग रहे थे!

अमरित बेवकूफ की तरह अंधेरे में गायब खड़ा रहा. शायद लल्लन आये और दरवाजा भड़भड़ाकर खुलवाये...अमरित सिहरा...

लेकिन कोई न आया. धीरे-धीरे सिसकियां उभरीं—बिजुरी की सिसकियां...विवेक के बंधन टूट चुके थे. सिसकियों की आवाज ऊंची होती गयी...अब बिजुरी लाज-शरम छोड़ हिलक-हिलककर रो रही थी. चुप-चुप रात में न जाने कितने लोग जाग गये होंगे...

उधर बच्ची के मुंह पर से छमिया ने हथेली हटा दी थी और उसका रुदन बह निकला था—ऊंआं...ऊंआं...अब वह शांत होने लगा तो लल्लन ने बच्ची को चिकोटी काटी. फिर से रुदन ऊंचा हो गया ऊंआं... ऊंआं...

लल्लन ने मर्राकर छमिया से कहा, "रुला, खूब रुला टुरी को, भौजाई का रोना कोई न सुने, समझी. टुरी की आवाज मां भौजाई की आवाज दब जाही...रुला...रुला...टुरी को..."

अगली चुटकी—ऊंआंआं...ऊंआंआंआं...

दूसरे दिन अमरित बेशर्मी पर उतर आया—जब सामने लल्लन दिखायी पड़ा तो अमरित ने उससे आंख चुराने की कोई चेष्टा न की. लल्लन मुस्कराया, जैसे रात कुछ हुआ ही न हो. दोनों भाइयों ने कलेवा किया जैसा कि वे रोज करते थे और चले गये प्रेस.

खटाआक्.

ठनाठनाना खटाआआक्.

अमरित एक ही बात सोचता—भड़वी बिजुरी बांझ निकली. गोरा-गोरा चाम है, बस. साल निकल गया. रोज सौ बूंद की एक बूंद जैसी कितनी बूंदें देता हूं, लेकिन रोगही औरत जात! खाली तो खाली. बांझ है बिजुरी, और लोग कहते हैं...अमरित खराब...अमरित खोटा. सोनपरी की जिंदगानी अमरित ने खराब की. अमरित की जिंदगानी सोनपरी ने खराब नहीं की?

जै शराब. जै लालपरी! धन्न हो जिसने शराब बनायी, धन्न हो! लाओ, अऊर लाओओ!

छह महीने के बाद जब सोनपरी बिजुरी ने आकर कुछ झेंपते, कुछ हुलसते और कुछ चाहते से स्वर में अमरित को बताया कि अब बिजुरी खाली नहीं है, बीज आ गया है बिजुरी के पेट में तो अमरित को खुशी न हुई—बिल्कुल न हुई. उसने बीड़ी सुलगायी, जलती तीली की आंख जूते से मसलकर फोड़ी, फिर बिजुरी के ठीक चेहरे पर धुआं उगला और खरखर आवाज में पूछा, "बता...ये बीज किसका है?"

बिजुरी अकबक रह गयी. एक डग पीछे हटी, कपड़े संभालने लगी मानो अमरित अभी साड़ी चीर देगा—चर्रर्र...जैसे उसने उस रात किया था. उसका हाथ अपने आप उदर के सामने आ गया, मानो वह उस मुक्के से बचना चाहती हो जो अमरित उसके पेट पर, उसके गर्भ पर मारेगा...ठीक उस रात की तरह...तब...तब बिजुरी का बीज कहीं...

भागी बिजुरी—यों लड़खड़ाती—जैसे अभी उलट जायेगी. पीठ के पीछे लग रहा था उसे, अमरित दौड़ रहा है—हफ्फ..हफ्फ अभी पकड़ेगा...अभी पकड़ेगा...कर देगा नंगी...फेंक देगा सड़क पे... भाग भाग...

वह चीख रही थी, "लल्लन...लल्लन..."

और किसे पुकारे? सिवा देवर के और कौन है उसका?...छमिया तो यूं ही होश खो देगी. "...लल्ला...लल्ला...रेए..."

लेकिन लल्लन नहीं था आसपास. पता नहीं, कहां गया था, बिजुरी एक पड़ोसिन के घर में घुस गयी. भड़ाक् से दरवाजे बंद किये और कांपने लगी—थरथर.

इधर अमरित जिस तरह बैठा था, उसी तरह बैठा रहा. केवल उसका बायां हाथ हिलता था जो बीड़ी पकड़े हुए था. पहले हाथ बिलकुल सीधा रहता, मानो उसकी कोहनी न हो. फिर वह बीच से टूटकर मुड़ने लगता, जिससे कोहनी जाहिर हो जाती. मुड़कर वह मुंह की ओर बढ़ता और बीड़ी होंठों से लग जाती. अमरित उसे जोर से कशियाता...बीड़ी का छोर चमकने लगता. विचारों का काला नाग फों-फों कर रहा था. छिनाल औरत, तिरिया चरित्तर! कैसे पुकार रही थी अपने बालम को—लल्लन...लल्लन...बच्चा थोड़े ही हूं. सब समझता हूं. जाने कब, कहां-कहां मिलती होगी लल्लू जी. से इठलाती, मचलती बताने आयी थी—अब बीजवाली हूं. अरे जा छिनाल, बता उसे, जिसका बीज लायी है. और ठीक है, गयी भी तो उसी के पास लल्लन... लल्लन...

अमरित ने किसी ठोस कारण की खोज न की. मन में आवाज उठी, बीज मेरा नहीं. मेरा नहीं, तो किसका? लल्लू का? लल्लू का ही तो. उसके सिवा और है कौन जो मिल जाये इतनी आसानी से? है भी तो जवान...पका सेब देख लो...गोरा चाम दूसरे को भी चिपकने देता है, सास्तरों में झूठ थोड़े लिखा है, सुंदरी ढोकी दुश्मन जैसी, दुश्मन जैसी क्यों, उससे भी बदतर...

और वाह रे लल्लन...तेरे लिए मैंने इत्ता-इत्ता किया. इत्ता प्यार किया तुझे...और तूने ही...

मेरा मन कहता है, वह तू ही है...तू ही है...वह...

गांव में अफवाह यों ही नहीं उड़ी होगी. कइयों ने बताया था मुझे, लल्लू घर की थाली छेद रहा है. मैंने ही आंखें मूंद रखी थीं...

कई-कई बातें याद आ गयीं अमरित को. जिस दिन बिजुरी घर में आयी थी, कितना खुश था लल्लू, मैं चुप बैठा था, वह उचक रहा था—मेरी भौजाई...मेरी भौजाई...और लल्लू ने तो पहले से ही मुझे खोटा समझ रखा था न...खुद अपने कानों सुना था मैंने...छमिया से उसी ने कहा था...'मुझे भी तो सच्चा मालूम पड़थे...' जिस दिन बिजुरी आयी, तभी से आंख गड़ायी होगी. बिजुरी भी तो रंडी, इतना हंसती थी उसके सामने.

बिजुरी और लल्लन के संबंध स्वीकार करते ही अपने-आप अमरित खुद का 'खोटापन' भी स्वीकार कर रहा था. यह डंक बहुत नुकीला था, बहुत ही नुकीला. उसे कल की शाम याद आयी. वह घूम-घामकर चुपके से घर में घुसा था तो सामने ही दिखाई पड़ गये थे बिजुरी और और लल्लन. छमिया वहां थी नहीं. लल्लन हंस रहा था. बिजुरी हंस रही थी. लल्लन भौजाई-भौजाई करता बिजुरी का हाथ पकड़ रहा था. वाह री गदरायी छातियां, पल्लू गिर गया था तो उठाती क्यों नहीं थी. रांड बिजुरी! उसे देखकर जरा भी सकपकाये थे दोनों? हद है बेहयाई की. आ गया कलयुग...

और आज तो हद की भी हद हो गयी.

...चली आ रही है इठलाती, मचलती...अजी, सुना जी? मैं अब खाली नहीं हौं...दुरं कुतिया...!

उठकर अमरित बाहर आया और चल दिया लाल परी की दूकान की ओर. जाकर पी—ज्यादा नहीं, इतनी कि दिमाग झन-झन करता रहे. अब दूकान से निकला तो पौने दस हो रहे थे. प्रेस का रास्ता इतना था कि ठीक दस बजे पहुंचा जा सके. उसने ट्रेडिल को, उसकी पोपली आवाजों को याद किया और कदम बढ़ाता रहा.

मशीन-रूम में लल्लन पहले से हाजिर था. वह ट्रेडल को तेल पिला रहा था. इंक-कंटेनर में छपाई की स्याही डालने के लिए वह चढ़ा, उसका एक पांव तख्ती पर था, दूसरा फ्लाई ह्वील पर. अमरित ने दिलासे के लिए मन-ही-मन मजाक किया, "अगर अभी मैं फ्लाई ह्वील चला दौं, तो गिर पड़े ललुआ—दनंग...'

ललुआ सुबह से बाहर गया हुआ था. यदि वह बाहर-ही बाहर प्रेस चला आया है तो सुबह वाली घटना का उसे पता न होगा. वैसे ललुआ है बड़ा गहरा. अगर उसे घटना का पता है तो भी चेहरे से कभी मालूम न होने देगा.

कम करते-करते भी वह शायद ज्यादा पी गया था. झुरझुरी दिमाग में चढ़ रही थी. ट्रेडिल मशीन कभी पास दिखाई पड़ती, कभी थोड़ी दूर. उसने सिर को झटका दिया. प्रेस का पूरा मकान घूम गया. उसे अच्छा लगा. वह मुस्कराया. एक ओर लेड-गैली रखी थी, चलने कोशिश में वह उससे टकराते-टकराते बचा. किसी तरह उससे कन्नी काटी तो क्वैईस के ढेर पर पांव पड़ गया. लल्लन इंक कंटेनर में स्याही भरकर तख्ती से नीचे उतर रहा था. अमरित के लड़खड़ाते पांवों पर उसका ध्यान नहीं था. नीचे उतरकर उसने ट्रेडिल चलानी शुरू की. रोलर चिटचिटाते हुए ऊपर जाते, इंक-प्लेट पर स्याही को पीसते, इंक-कंटेनर की लंबी गोलाई को छूते और चिटचिटचिट नीचे उतरने लगे. कुछ ही

अमरित के मन में चोर बैठता गया था. क्षण-प्रतिक्षण उसके मन पर डंक पड़ते रहे थे.... कितना ओछा, कितना बचकाना काम कर डाला मैंने! बिजुरी चरित्तर की खोटी थी, इसका कोई सबूत नहीं था, फिर भी.... फिर भी उफ! लल्लन को दाहिना हाथ गया. जिंदगी भर के लिए वह बरबाद हो गया. मेरे कारण मेरी बेवकूफी के कारण.

देर में स्याही पिसकर मिलान में आ गयी थी. ट्रेडिल छपाई के लिए तैयार थी.

बड़ी स्वस्थता से अमरित तख्ती पर चढ़ गया और मुस्कराया, "हां लल्लन, लगा दे जोर, देखें, एक घंटा में कितने कागज दाब उतरती हवै..."

ठन्न खटाक्!

चल पड़ी ट्रेडिल.

खटाक्. लल्लू की ऐसी की तैसी!

खटाक्. लल्लू की खटिया उट्ठै;

"चला लल्लू! साब्बास लल्लू!"

फ्लाई ह्वील घूम रहा था...तेज...तेज...तेज...अरे फ्लाई ह्वील मशीन से उखड़कर हवा में कैसे आ गया? दायीं ओर से उठकर घूम रहा है...बिजली के पंखे जैसा फ्लाई ह्वील...घुर्रर्रर...!

अमरित ने सिर को झटका दिया. फ्लाई ह्वील बायीं ओर फिट हो गया. ओह, यह लाल परी!

ये रोलर आड़े-टेढ़े कैसे जा रहे हैं? स्याही की प्लेट पर चिटचिटा-करते जमीन की तरफ नहीं उतरते हैं, सीधे अमरित के मुंह पर आना चाहते हैं...गोल-गोल घूमते, चमकते रोलर. अमरित ने सिर पीछे किया. कहीं रोलर चेहरा काला न कर दे.

धूत लाल परी! हट परे!

रोलर अपनी जगह फिट हो गये...मशीन का जबड़ा खुलता है. ठनठन बंद होता है.—खटाक्. एक एक कागज अंदर जाता है—छपने के लिए और छपकर एक-एक कागज बाहर आता है. हर बार लल्लन का हाथ अंदर जाता है.

खटाक् लल्लन की मुंडी कटै...!

खटाक् लल्लन को कीरे परैं...!

अजीब जादू है इन आवाजों में...जादू और लाल परी...! लाल

परी और जादू. . .!

लल्लन का हाथ अंदर जाता है. हाथ . . .बिजुरी का हाथ पकड़ने वाला हाथ. . .जबड़ा बंद होता है. . .हाथ बाहर आ जाता है. . .जबड़ा खुलता है. . .हाथ अंदर जाता है. जबड़ा बंद होता है. . .हाथ अंदर रह जाये तो?

परे हट. . .! हट परे लाल परी. . .!

मैं ना मानूं. . .मैं ना मानूं. . .मैं लाल परी ? मैं ना मानूं. . .ना मानूं जबड़ा खुला—हाथ अंदर. जबड़ा बंद—हाथ अंदर. लल्लन चीखा. ट्रेडिल भड़भड़ा उठी. कराहता हुआ जबड़ा खुला. खून से सना जबड़ा जगह-जगह मांस के कतरे लगे हुए थे. लल्लन के दाहिने हाथ की हथेली गायब थी. मशीन के जबड़े ने उसे चबा डाला था. पांचों उंगलियों की हड्डियां टूटकर मांस से बाहर निकल आयी थीं. हथेली की जगह मांस का लोंदा था.

हाहाहा! और पकड़ेगा बिजुरी का हाथ? अजी लल्लू जी, कैसी रही!

हट-हट. . .दुरं लाल परी!

अमरित कूदा.

बेहोश लल्लन को प्रेस के कर्मचारियों ने मशीन रूम से बाहर लिटाया. अमरित रोने लगा—बच्चों की तरह. चिपट गया लल्लन से. . . हाय, ये क्या हुआ मेरा भइया रे. पांचों उंगलियां गयीं. हथेली भी गयी. मशीन खा लिया. . .भरख लिया. अब क्या करेगा? लल्लन क्या करेगा? लल्लू रे. . .ओ रे लल्लू, तेरी तकदीर फूटी! मेरी तकदीर फूटी!

अमरित रो रहा था—पूरी ईमानदारी से. सचमुच वह इतना दुखी था कि शायद और दुखी न हो सकता था, लेकिन एक बात लगातार उसके ध्यान में थी. विलाप करते. . .बिलखते हुए कहीं मुंह से यह न निकल जाये कि लल्लन की हथेली मैंने नाश की. . .मैंने, उसके बड़े भाई ने!

ज्यों ही छप चुका कागज निकालने के लिए लल्लन ने मशीन के खुले जबड़े में हाथ डाला था, अमरित ने चप्प से उसे वहीं दबा दिया था चौंक गया था लल्लन—इतना ज्यादा कि चीखना भी भूल गया था और जब वह चीखा था, शायद उसे पता भी न चला था कि वह चीखा था—दर्द और दहशत से वह उसी क्षण बेहोश हो गया था.

झटपट बैलगाड़ी में सुलाकर लल्लन को कसबे के अस्पताल ले जाया गया था और बहुत चाहकर भी अमरित उसके साथ न जा पाया था. मुझसे देखा न जा सकेगा. . .सहन न होगा मुझसे. . .यही कहा था, बहाना किया था उसने और ज्यों-ज्यों शाम घनी हुई थी, अमरित के मन में चोर बैठता गया था. क्षण-क्षण प्रतिक्षण उसके मन पर डंक पड़ते रहे थे. . .कितना ओछा. . .कितना बचकाना काम कर डाला मैंने! बिजुरी चरित्तर की खोटी थी, इसका कोई सबूत नहीं था, फिर भी. फिर भी उफ! लल्लन का दाहिना हाथ गया. . .जिंदगी भर के लिए वह बरबाद हो गया—मेरे कारण, मेरी बेवकूफी के कारण. . .बिजुरी की निगाहों का सामना कैसे कर पाऊंगा मैं? मैं जानता हूं बिजुरी को. वह मुंह से न कुछ न कहेगी. लेकिन आंखों में ऐसा तिरस्कार भरकर देखेगी, कि . . .तुरंत समझ जायेगी बिजुरी, लल्लन का हाथ मशीन में ऐसे ही नहीं आया— वह तो जबरन डाल दिया गया. क्यों? केवल एक बेमानी, बेसबूत शक के कारण.

जब लल्लन होश में आयेगा?

वह भी समझ गया होगा सब कुछ. और मान लो, न समझा होगा तो छमिया समझ जायेगी. इन औरतों की आंखें जाने कहां-कहां तक देख लेती हैं. और मान लो, छमिया भी न समझे तो बिजुरी तो समझ ही जायेगी. अगर बिजुरी बिफर गयी, मति घूम गयी उसकी तो? तो वह चीखेगी, चिल्ला-चिल्लाकर बतायेगी सबको. नहीं,. . .नहीं. . .बिजुरी नहीं करेगी ऐसा. . .लेकिन मति घूम जाये तो कुछ सुझाई थोड़े ही पड़ता है. मेरी भी तो मति घूम गयी थी. भरख लिया लल्लन का हाथ. अब पछता रहा हूं. सिर धुन रहा हूं. अगर बिजुरी बिफरी तो बाद में वह भी पछतायेगी. सिर धुनेगी, लेकिन जो एक बार हो गया, हो गया. नहीं. . . नहीं. . . .बिजुरी ऐसा नहीं करेगी. . .मति घूम गयी तो?. . .नहीं घूमेगी. . घूम गयी तो?. . .नहीं. . .घूम गयी तो?

अमरित ने सिर उठाया था तो दिखाई पड़ी थी. ट्रेडिल जिसे प्रेस का नौकर रगड़-रगड़कर साफ कर रहा था. लहू. . .लल्लन का लहू. मांस के कतरे. . .नौकर के हाथ कांप-कांप जाते थे.

और तय कर लिया अमरित ने, घर जायेगा ही नहीं, बिजुरी के सामने पड़ेगा ही नहीं. इतनी गोरी चम-चम बिजुरी. . .उसका मोह कैसे छूटेगा? छूटे न छूटे, छोड़ना पड़ेगा ही.

आखिरी बार मिल लूं बिजुरी से?

अमरित. . .तेरा दिमाग तो खराब नहीं होगा?

आखिरी बार बतिया लूं सोन परी से?

तेरे मन मां कीरे पर गे हवैं अमरितवा.

बस, एक बार. . .एक बार और देख लूं उसे. . .

दुरं अमरित. . .कुकुर (कुत्ते) के जात से भी गिर गे हस तैं. . .जब तुझे हियां से जाना ही है, बिदा लेना ही है, तो सोन परी को देखे का फायदा? जा, चला जा. . .अब्भी के अब्भी छोड़ दे कसबा, तेरा मनवा कमजोर हवै. कसबा ना छोड़ेगा तो सोनपरी के पास जायेगा और सोनपरी के पास जायेगा तो कसबे से कब्भी नहीं जायेगा. . .सारी उमरिया सड़ता रहेगा गोरी चमड़ी के पीछे. दुड़-दुड़ सब भगायेंगे, दुरदुराकर गाली देंगे. सब सहन करेगा, पर कसबे से नहीं जायेगा. . .गदर-गदर मांस का जादू अईसा ही तो होवै. समझा कुछ? चल भाग. . .अब्भी भाग.

और उसके पांव बढ़ गये थे. उस पगडंडी पर जो उस कुएं की करवट को छूकर आगे जाती थी. आकाश को कारे बादलों ने निगल लिया था और उन बादलों में बिजली की कोई लपलपाहट नहीं थी.

जाने कहां-कहां मारा-मारा फिरा था अमरित—दाढ़ी बढ़ाकर, वेश बदलकर, नकली नाम रखकर. कई बार भूख लगी होती और खाने को न होता. कई बार खाने को होता और भूख न लगी होती. अकसर तो ऐसा ही होता कि न भूख होती, न खाने को होता.

कसबे से भागने के तीन दिन बाद अमरित को एक दर्दनाक समाचार सुनना पड़ा था. उस दिन वह एक झोपड़ेनुमा होटल के एक कोने में दुबका हुआ चाय पी रहा था कि पास की चरमराती बेंच पर बैठे देहाती ने बीड़ी का कश लेकर उसकी ओर देखा और बोला, "क्यों भाई, ये समाचार पढ़े?"

मानो गले से आवाज निकलते ही पहचान जायेगा और गिरफ्तार कर लिया जायेगा, यों अमरित चुप रहा. केवल चाय के कप पर से आंखें हटाकर उसने उस देहाती की ओर देखा और मुस्कराया जरा भी नहीं. देहाती के हाथ में एक अखबार था. वह उसकी परतों को यों समेट रहा था मानो सड़ते कपड़ों को संभालना चाहता हो. देहाती होते हुए भी वह हिंदी अच्छी तरह पढ़ सकता था. ज्यों-ज्यों अमरित सुनता गया, उसे झुरझुरी घेरती गयी. . .

". . .नीमतरा की बिजुरी नामक एक स्त्री गले में पत्थर बांधकर कुएं में डूब गयी. उसके पति को शक था कि देवर के साथ उसका नाजायज संबंध है. उसका देवर एक प्रिंटिंग प्रेस में काम करता था. वह इस समय अस्पताल में है. क्योंकि कुछ ही दिन पहले छपाई-मशीन में उसका हाथ आ गया था. देवर शादीशुदा है, एक लड़की का बाप है. बिजुरी का पति लापता है. पुलिस उसकी खोज कर रही है.

"गर्दन के पत्थर के कारण बिजुरी की लाश पानी के ऊपर न आयी थी, जिससे पानी से बदबू उठने लगी थी. कुआं साफ किया जा रहा है. डूबते समय बिजुरी गर्भवती थी, ऐसा डाक्टरी जांच से पता चला है."

अखबार की परतें खोलकर, नया पृष्ठ निकाल, वह देहाती फिर से उसे नयी परतों में लपेटने लगा था और अमरित के हाथ इस तरह कांपे थे कि चाय ने उसके कपड़े खराब कर दिये थे. हाय बिजुरी, यह क्या किया तैंने. दो-दो हत्या मेरे सिर पे चढ़ेगी. बीज के हत्या तो बामन (ब्राह्मण) के हत्या बराबर हो थे. बिजुरी रे. . .ओ रे. . .तैंने अपना भविस बिगारा. . .मेरा भी बिगार दिया. . .नरक में दुन्नों को कीरे परेंगे.

केवल दो क्यों, तीन और हत्याएं अमरित के सिर पर भूतनियों की तरह सवार थीं. छोटे भाई की दाहिनी हथेली भरखने के बाद अमरित ने उसे जिंदगी भर के लिए बेकार कर दिया था. दाहिना हाथ न होगा तो काम क्या करेगा. वह बेकार हो जायेगा तो छमिया क्या खायेगी? छमिया की बेटी क्या खायेगी? मतलब, ये तीनों जिंदा होते हुए भी मर गये. तीन और दो, पांच हत्याएं.

कहीं शांति न मिली अमरित को. साल भर इधर से उधर, उधर से इधर भटकता रहा वह. बनजारे की तरह खाता रहा दर-दर की ठोकरें और पीता रहा शराब. जे लाल परी घन्न हो. . . लाल परी. . .! लेकिन मन की पीर को किसी भी तरह छला न जा सका. . .

बिजुरी. कुएं में बुड़ गिस बिजुरी. ओर (उसकी) आतमा को शांति नहीं मिल सकती. बनी होगी परेत. . . वहीं रहती होगी. . . उसी कुएं में.

. . . यह काल्पनिक प्रेत परछाई की तरह अमरित से चिपका रहा, खाऊं-खाऊं करता रहा, गंधाता रहा. . .

. . .और जब फिर से बारिश आयी, अमरित ने, लाचार अमरित ने सोचा कि वापस लौटे. जाये कसबे में, पता लगाये, लल्लन कहां है, क्या कर रहा है. कटे हाथ के कारण रोजी-रोटी का जुगाड़ बड़ी मुश्किल से हो पाता होगा न? जरूरत हो तो लल्लन के साथ रहे, कमाकर खिलाये भय्यन को, उसकी घरवाली, उसकी बिटिया को. छमिया ठीक-ठीक है न? छमिया की नन्ही-सी बच्ची मजे में है न? बच्ची के लिए भाई या बहन की तैयारी छमिया ने की या नहीं? अल्ले. . . अले लल्लू जी तो छलमाने लगे. अब्बे शरमाता क्यों है? गांव के दाऊ के हियां बाईस बच्चे नहीं हवैं? सब्बा साल में [illegible] शाइदा ना होही तो बाईस का नंबर कईसे

आहीं? . . . मन ही मन अमरित बातें करता लल्लन से. . . अमरित के सारे गम यह कल्पना घोलकर पी जाती. शराब भी इतना असर नहीं करती थी. ऐसे प्यारे-प्यारे लल्लू की खैर-खबर अमरित ना पूछे! साल हो जाये, मिलने भी न जाये!

क्या लल्लन मुझे देखते ही खिसियाकर डंडा मारने दोड़ही? छाती में चाकू घोंप देही? क्या अईसा बोलही कि क्यों आये हुए? मेरा हाथ भरख के, भौजाई को मार के, भौजाई के बीज को खतम करके. . .बोल, बोल, क्यों आये हम? . . . नहीं. लल्लन ऐसा कभी न कहेगा. . . इतने कड़े दिल का नहीं है लल्लन. भूल हर इंसान से होती है. लल्लन भी समझता है इस बात को.

और मान लो लल्लन यह सब कहे भी. खिसियाकर चक्कू मारने दौड़े भी तो क्या यह उसका हक नहीं?

जब तक अमरित अपना अपमान न करायेगा, लल्लन की गारी न सुनेगा, उसका चक्कू न सहेगा, शांति न मिलेगी उसे. अमरित कोई बुरा आदमी थोड़े ही है. बिजुरी भी बुरी नहीं थी. लल्लन भी बुरा नहीं है, छमिया भी नहीं. कोई नहीं. सब भले थे. सबके सब भले थे, लेकिन. . . लेकिन यह सब क्या हो गया? कैसे हो गया यह सब? ऐसा तो बुरे लोगों में होता है. हममें कैसे हो गया?

पता नहीं कैसे हो गया. किसी ने किया नहीं, अपने आप हो गया.

सोचता रहा अमरित. . .सोचता रहा, सोचता रहा. . . और कसबे की ओर वापस चलता रहा अमरित. . . चलता रहा, चलता रहा. . .

वह चुपचाप झाड़ी के पास आकर खड़ा हो गया. रात का अंधेरा इतना घना था, मानो उसे छुआ जा सकता हो.

अमरित ने चेहरा ऊपर कर दिया, मुंदी पलकों पर बूंदें झेलने के लिए—मन की तपिश शायद शांत हो इस तरह.

फिर वह उठा और पगडंडी पार करने लगा, जो चिकनी हो गयी थी. इतने दिनों बाद वह कसबे में आया था, लेकिन कसबा बिल्कुल अपरिचित न लग रहा था. वह घना बड़ उसी तरह घना था और नीम का वह वृक्ष उसी तरह कमर झुकाये हुए था. हर चीज अंधेरे में भी चेहरा उघाड़कर बैठी थी. और जब अमरित का पुराना मकान करीब आया तो उसकी एक-एक दीवार, छत का एक-एक खपरैल जाना-पहचाना, अपनेपन से भरा हुआ लगा.

एक पल को अमरित के मन में शंका जगी कि शायद लल्लन इस मकान को छोड़ चुका हो—चला गया हो कहीं और.

तब?

लल्लन हो या न हो, अमरित को जाना है. उसी मकान में, लल्लन न होगा तो जो यहां है, उसे जरूर मालूम होगा कि वह कहां है, कब से है.

"मोती. . . मोती. . . मैं हौं. . . अमरित. . . चच्च्च. . ." अमरित अंधेरे में फुसफुसाया. बारिश थम चुकी होने के कारण पड़ोसी का कुत्ता बाहर निकल आया था. कहीं वह भूंक न पड़े. अमरित ने अपना परिचय देना चाहा, लेकिन चार पैरों का जानवर दो पैरों के आदमी को इतने अरसे बाद एकाएक पहचान न पाया. पहले वह थोड़ा रिरियाया, फिर भूक पड़ा—"भौं. भौं. भौं भौं."

"दुरं. दुरं." उसकी ओर हाथ उछालते हुए अमरित ने लल्लन के मकान की ओर जरा तेज कदम उठाये. कुत्ता पीछे लगा ही रहा, "कौन हो तुम? भौं. . . भौं, क्यों आये हो? भौं. . . भौं. . ."

कुत्ता कहीं उछल न पड़े, काट न ले. इस भय के बावजूद मकान पास आते ही अमरित ठिठककर खड़ा रह गया. समझ न पाया, सांकल किस कमरे की खटखटाये. जिस कमरे में अमरित व बिजुरी रह चुके हैं, उसी में अब लल्लन और छमिया रहते होंगे? या वे अपने पहलेवाले कमरे में ही रहते हैं?

अमरित नहीं चाहता था कि लल्लन कुत्ते की भूंक से जागे, बाहर आये और देखे, कुत्ते के पास उसका बड़ा भाई खड़ा है. अमरित चाहता

क्या सचमुच 'घरघुसरा' मर गया?

—हिमांशु जोशी

मनहर चौहान कभी चर्चित लेखकों में से रहे, जिनसे अपेक्षाएं भी कम नहीं थीं. उस दौर में क्या कहानियां, क्या उपन्यास—वह सर्वत्र छाये रहे.

'सचेतन कहानी' आंदोलन से बुरी तरह जुड़े रहने के कारण 'नयी कहानी' के पूर्ववर्ती कर्णधारों पर उन्होंने पत्थर भी कम नहीं बरसाये. हर स्तर पर मोर्चा लेने का प्रयास भी कम नहीं किया, जिससे स्वयं को प्रतिष्ठित करने के प्रयास में किंचित सफलता भी प्राप्त हुई, किंतु 'घरघुसरा' से लेकर 'भेदभरी पत्रिका' तक आते-आते स्थितियां सहसा बहुत बदल गयीं. लगता है, वर्षों तक श्रम करके, अपने लेखन के माध्यम से मनहर ने जो मीनारें बनायीं थीं, अपने ही हाथों उन्हें गिरा भी दिया.

लेखक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह निरंतर साहित्य की धारा से जुड़ा रहे—निरंतर लिखने की प्रक्रिया में—किसी न किसी रूप में रहे. किंतु मनहर के बीच-बीच में अदृश्य हो जाने से, लगता है कहीं वह पीछे रह गये हैं.

'सारिका' द्वारा जब मनहर की 'घरघुसरा' कहानी पुरस्कृत हुई, तब लोगों को इस सफलता पर आश्चर्य नहीं हुआ था, क्योंकि तब तक उभरते हुए कहानीकार के रूप में मनहर प्रतिष्ठित हो चुके थे. दूधनाथ सिंह को इस प्रतियोगिता में दूसरा तथा भारतभूषण अग्रवाल को तीसरा पुरस्कार मिला था. भारत भूषणजी मूलतः कवि थे.

विडंबना ही कहेंगे इसे, उपयुक्त कहानीकारों में से, कोई भी कहानीकार के रूप में, एक लंबी यात्रा तय कर पाने में असमर्थ रहे.

'घरघुसरा' मनहर की सबसे अधिक चर्चित कहानी है. मानव मन के अंतर्द्वंद्वों को बड़ी सूक्ष्मता से उजागर करने का प्रयास किया गया है. अमरित के माध्यम से मनहर ने समाज की संघर्षशील स्थितियों का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है.

'जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस' में अमरित का बाप जीवन भर छापे के अक्षरों को बिठाते हुए सीसे से अंगुलियां काली करता रहा. अंत समय तक अपने दोनों बेटों को चेताता रहा—"देख रे मुन्ने, कंपोजीटर कब्भी ना बनना. उंगरी मां सीसा लगथै. आमां जहर हाथै—धिम्मा-धिम्मा सरीर मां आथै. अउर एक दिन ममस्सा खलास!"

सचमुच एक दिन बाप स्वयं ही खलास हो जाता है तो अमरित निर्णय लेता है कि न वह कभी कंपोजीटर बनेगा, न छोटे भाई लल्लन को ही बनने देगा.

"किपोसींग ना करोगे तो पईसा कहां से आही?" कस्बे के प्रेस का मालिक ललकारता तो अमरित असमंजस में पड़ जाता है.

अमरित का एक ही आधार है—लल्लन. मां नहीं, बाप नहीं, पर अमरित उसे किसी भी अभाव का एहसास नहीं होने देता.

स्वयं कंपोजीटरी करता है, किंतु, लल्लन को ट्रेडिल में मशीन पर बिठाता है. क्योंकि ट्रेडिल में खतरा कम है.

दिन-रात मेहनत करता है. रुपये जोड़ता रहता है, ताकि लल्लन के लिए 'डौकी' ला सके.

"साहबो, खेत की चउकीदा री करहों! रात भर जगहों."

रात-रात भर जागकर चौकीदारी भी करता है, प्रेस के 'ओवर टाइम' के अतिरिक्त, फिर भी पूरा नहीं पड़ता. तो जाता है दाऊ (भूतपूर्व जमींदार) के पास, "सरकार, माई-बाप, करजा मांगियों. लल्लन के लिए दुलहनिया लानी हवै!"

इस तरह एक दिन दुलहनियां छमिया घर ले आता है—लल्लन की 'घर-गिरस्ती' बस जाती है, स्वयं अविवाहित रहता है. इसका लोग गलत अर्थ लगाते हैं. कोई चुपके से आकर फूंस में जलती तीली छोड़ जाता है—'कसबा मां तुम्हार बारे में अफवा उड़ी है कि तुम सादी के लायक नहीं!"

अमरित इस आक्षेप को सह नहीं पाता.

इसका उत्तर एक दिन अनिद्य सुंदरी बिजुरी को ब्याह कर, लाकर देता है. परंतु साल भर बाद भी जब बाप नहीं बन पाता तो सारा दोष बिजुरी पर मढ़कर, अमानवीय अत्याचार करने लगता है—शराब के नशे में.

किंतु तभी एक दिन बिजुरी पांव भारी होने का संदेश देती है तो अमरित को कहीं कोई प्रसन्नता नहीं होती. उल्टा बिजुरी के चरित्र पर संदेह करता हुआ, लल्लन के कपाल पर कलंक लगाने लगता है.

तभी अशुभ और विनाश का प्रतीक 'घरघुसरा' एक दिन छत पर लटका बोलता है. वास्तव में संदेह का यह 'घरघुसरा' सचमुच एक दिन सर्वनाश का कारण बन जाता है.

कहानी का अंतिम भाग बहुत से प्रश्न चिह्नों के साथ, बड़ी तेजी से उभरने लगता है—

ट्रेडल मशीन में अमरित द्वारा लल्लन का हाथ काट देना. .. घर से निकल भागना . . . दर-दर भटकना. . इस बीच गर्भवती बिजुरी का कुंए में कूदकर आत्महत्या करना. . .अमरित का फिर घर लौटना. . . भाले की नोक से लल्लन द्वारा घरघुसरे की हत्या करना. . .

घरघुसरा मर गया. उसकी लाश लल्लन ले गया. कह रहा था—"अब्भी जाके घूरे पे फेंक देहूं."

फेंक दी होगी! सचमुच घरघुसरा मर गया. कहां मरा घरघुसरा? यह रहा, यह रहा घरघुसरा! लेटा है खाट पर.

अमरित फड़फड़ाकर उठ बैठा.

जिसने पांच प्राणियों की जान ले ली.

आत्मग्लानि एवं अपराध बोध से घिरा वह सुबह होने से पहले घर छोड़कर निकल भागता है.

'घरघुसरा' के माध्यम से मनहर ने एक साथ अनेक संघर्षों को उजागर करने का प्रयास किया है. किंतु इस कहानी को आज पढ़ने पर, कहीं-कहीं कुछ कमियां भी दिखलाई देती हैं. कहानी को अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा कहीं उसे अस्वाभाविक लगने लगती है. 'भौं. . .'. भौं. . . भौं, क्यों आये हो? भौं. . . भौं भौं' ऐसे प्रयोग कहानी के प्रभाव को शिथिल कर देते हैं. जब ऐसे प्रयोग की भरमार हो तो आज के पाठक को कहानी कहीं असहज लगने लगती है.

अनावश्यक विस्तार भी कहीं कहानी की पकड़ को कम कर देता है, विशेषतः आरंभिक भाग में. ◻

था, लल्लन जागे तो सांकल की खटखटाहट से, जो अमरित की खुद की हो.

उसने निर्णय कर लिया. तेजी से कदम बढ़ाकर वह खुद के कमरे के पास पहुंचा.

दरवाजे पर बाहर से ताला लगा हुआ था.

बिजली कौंधी. ताला दिखाई पड़ा. फिर बुझ गया. आकाश दरकने लगा.

"भौं. . . भौं. . . क्यों आये हो? भौं. . .भौं."

अब कसबे के दूसरे कुत्ते भी भूंकने लगे थे—एक-दूसरे को दूर-दूर से ज्यादा भूंकने के लिए उकसाते हुए— 'भौंओं. . .ओं. . . भौं-भौं. . .' जैसे अमरित के आते ही पूरे कसबे पर भयानक विपदा आ पड़ी हो. . . साली बुदबुदा अमरित दूसरे कमरे की ओर गया. कुत्ता भूंकता हुआ पीछे आया.

"साले, तेरी ठठरी उट्ठे हू. . . ले. . . ले. . ." और वह पागलों की तरह कुत्ते पर पत्थर के बाद पत्थर फेंकता गया. दो-एक पत्थर कुत्ते की टांग पर पड़े. वह कुकुआने लगा, लेकिन भागा नहीं. कुकुआता हुआ भूंकता ही रहा—"भौं-भौं. . . कौन हो. . . भौं-भौं. . . चले जाओ. . ."

रात.

बादल.

अंधेरा. . . अभी-अभी विदा हुई बारिश की चिपचिपाहट. . .'

"कऊन है?" पीछे से आवाज आयी. अमरित चौंक गया, उसके दोनों हाथ लटक गये और वह सिहरने लगा. . . झुर. . . झुर. . . झुर. . .

सामने लल्लन खड़ा था.

"कऊन है?" उसने दूसरी बार पूछा, आगे आया.

अमरित ने सोचा था, लल्लन को देखते ही उससे लिपट जाऊंगा. लेकिन वह सामने आया तो वह हतप्रभ रह गया. कुछ सूझा ही नहीं तो अमरित ने सहमकर हथेलियों से चेहरा छुपा लिया, मानो वह अंधेरे में दीख रहा हो.

धीमी पदचाप. . . लल्लन पास आ रहा है?

अभी तक लल्लन ने नहीं पहचाना?

"बोलता क्यों नहीं? मुक्का है क्या?"

लल्लन ने करीब आकर उसके चेहरे पर से हथेलियां हटायीं. अमरित को पहले उसका दाहिना हाथ दिखाई पड़ा—दाहिना ठुंठा—और उसके बाद ही उसकी आंखें ऊपर उठ सकीं, लल्लन का चेहरा देख सकीं.

"अरे भैया?" फुसफुसाकर लल्लन एकदम पीछे हट गया.

अमरित ने 'हां मैं' कहना चाहा, लेकिन शब्द गले ही मर गये. सिवा लल्लन का चेहरा और कुछ न सूझा उसे.

भईईया! कहकर लल्लन लिपट क्यों नहीं जाता? डरता है? अमरित की धड़कन बढ़ी.

"भैईया, तैं?"

अमरित ने उसकी फुसफुसाहट सुनी जो आश्चर्य की थी, आनंद की नहीं. अमरित ने मुस्कराना चाहा, लेकिन. . . 'भौं-भौं' कौन हो तुम?'

"मोती. . . मोती. . . जा तैं, चच्च. . ." लल्लन ने कहा और बजाय अमरित की ओर बढ़ने के कुत्ते की ओर बढ़ा. कुत्ते ने दुम हिलायी, लल्लन से थोड़ा लाड़ किया. फिर चला गया. लल्लन अमरित की ओर मुड़ा—"आओ भईया." उसने अपने कमरे की ओर कदम बढ़ाये, जिसके खुले दरवाजे से भीतर की फीकी रोशनी दीख रही थी. अमरित लल्लन के पीछे घिसटा, दरवाजे के पास ठिठका, फिर भीतर आया.

लल्लन छमिया को जगा रहा था—"री उठ, भईया आये हवैं . . . भईया, अमरित भईया." वह छमिया पर इस तरह झुका हुआ था कि उसकी पीठ के कारण छमिया का चेहरा अमरित न देख सकता था. उसने हिलाती चादर से अंदाजा लगाया कि छमिया ने चेहरे पर से ढाकन हटा दिया है. लल्लन फिर से फुसफसाया—"अमरित भईया आये हवैं."

इस बीच अमरित ने पूरे कमरे को अंखिया लिया था. कोई फर्क

नहीं. हर चीज उसी तरह थी जिस तरह पहले थी. याने कटे हाथ के बावजूद लल्लन पहले के जितनी कमाई जरूर कर रहा था. अमरित को अच्छा लगा, लेकिन प्रसन्नता की यह भावना चेहरे पर उभरे, इसके पहले ही उसने छमिया को कहते सुना—"अमरित भईया?"

"क्या कहती हो छमिया? अमरित भईया. . .मेरे बड़े भईया. . ."

"क्यू आये हवैं? कह दो चले जायें." छमिया ने तड़पकर चेहरे पर चादर ओढ़ ली और भीतर से बोली, "मुझे उनका मुंह नहीं देखना."

लल्लन सकते में आ गया. अमरित गुस्सा न हो सका, हतप्रभ पहले से ही था. लल्लन ने छमिया पर झुका शरीर सीधा किया और एक तरफ हुआ. अमरित अब छमिया के चेहरे पर चढ़ी चादर देख सकता था. लल्लन ने गहरी सांस ली. सूखी मुस्कराहट के साथ बोला, "डोकी के जात हमेसा मुरख होथैं. सुबह मरम्मत करहूं, अब्भी तो चिल्ला-चिल्ला के कसबा सिर पे उठा लेही."

अमरित ने भी गहरी सांस खींची. बहुत देर तक रोके रखी. वह उस गुदड़ी की ओर देखता रहा जो छमिया की खाट के नीचे बिछी हुई थी. उस पर लल्लन की बच्ची सो रही थी. उसके पैर से कंधे तक चादर थी और सिर खुला हुआ था. ढिबरी की रोशनी में खाट की परछाईं ने बच्ची को ढक लिया था. अमरित उसके सोये चेहरे की रेखाएं बहुत कम पकड़ सका. उससे साहस न हुआ कि लल्लन से कहे—'बिटिया को जरा रोशनी में लाओ ना.'

अमरित को खाट के नीचे घूरता देखकर लल्लन थोड़ा हंसा, "कंजरी हवै. बड़ी हो गै." लेकिन कंजरी को न उससे खाट के नीचे से निकाला, न ढीबरी झुकाकर नीचे की परछाईं को ही दूर किया. अमरित ने थूक घूंटकर गले से उतारा और सोचा कि जब से वह आया है, कुछ बोला ही नहीं है. "हां बड़ी हो गै." उसने खरखराकर कहा.

तुरंत चादर के नीचे से छमिया गुर्रा उठी, "चले जाओ, टुरी मत देखो."

"छमिया!" दांत पीसकर लल्लन छमिया की ओर बढ़ा. शायद वह उसे मार बैठेगा, लेकिन बीच में ही अमरित ने उसका हाथ पकड़ लिया. एक साल बाद का यह स्पर्श परिचित भी था, अपरिचित भी उतना ही. लल्लन ने बड़े भाई की आंखों में झांका. वहां दो बारीक ढिबरियां चमक रही थीं. अमरित ने काफी देर तक लल्लन का हाथ न छोड़ा, मानों भाई को छूने का और मौका मिलना ही न हो. फिर उसे ध्यान आया कि जो हाथ उसने पकड़ा है, वह दाहिना हाथ है—आधा हाथ. तुरंत वह छूट गया उससे. वह कांपा, छत की ओर देखने लगा.

"आओ भईया, दुस्सर कमरे में चलो—तुम्हार अपने कमरे में उधर खटिया है, बिछौना है. आराम करो. सुबह बातें करेंगे. ठीक-ठीक?"

"हां." किसी तरह अमरित ने कहा और लल्लन के पीछे-पीछे बाहर आ गया, मानो लल्लन ही उसका बड़ा भाई हो. दोनों ने आंगन पार किया और दूसरे कमरे के सामने आ खड़े हुए. अंधेरे में टटोलकर लल्लन ने ताला खोला. दोनों भीतर घुसे. लल्लन ने मोमबत्ती बारकर धरती पर जमायी. खाट पहले से बिछी हुई थी, जिस पर उसने धब से गद्दा डाला, तकिया रखा, ओढ़ने के लिए चादर रखी, बिछी चादर की सिलवटें दूर कीं—सब गहरी खामोशी के साथ और उतनी ही गहरी खामोशी में अमरित भी लिपटा-घिरा रहा.

"सो जाओ भईया." लल्लन ने कहा, मानो कहे बिना अमरित को सोना सूझेगा ही नहीं. अमरित खाट की ओर बढ़ा कि. . .

. . .छत के पास पंख फड़फड़ाने की आवाज हुई. ऊपर से कुछ फूस गिरी. अमरित ने आंखें उठायीं.

घरघुसरा. . .इधर से उधर, उधर से इधर उड़ रहा था, चुप-चुप 'हुंह. . .तुम आ गये. . .! हुंह. . .आ गये तुम. . .हुंह. . ."

लल्लन ने घरघुसरे को गाली दी. "रोगहा, महीना मां एक-न-एक बार जरूर आथै. आज तो मैं जान निकालकर मान हूं. छमिया."

दीवार के उधर से कोई जवाब न आया.

"सुनत हस? घरघुसरा आय हवै?"

चुप्पी.

लल्लन अमरित की ओर घूमा—"भईया, मैं उधर जाके भाला लात हों. इसी घरघुसरे के लिए परसों मड़ई में खरीदा हवैं. अब्भी लाया."

लल्लन कमरे से निकल गया. अमरित खाट पर न बैठा. शून्य आंखों से घरघुसरे को ताकता खड़ा रहा. घरघुसरा छत के नीचे दुबक गया था उसकी बोट्टा-बोट्टा गोल आंखें, नुकीली मुड़ी हुई छोटी चोंच और उसकी खामोशी. . .'हुंह. . .सब समझता हूं. . .हुंह. . .सब जानता हूं. . .'

अमरित ने उसे डराने के लिए हाथ उछाले, लेकिन बोला कुछ नहीं, उधर छमिया सुन लेगी. . .

घरघुसरा उसी तरह दुबका रहा. . .हुंह. . .

लल्लन भीतर आया. उसके हाथ का भाला इतना लंबा था कि छत तक पहुंच सकता था. मजबूत बांस. उसने खिड़की बंद की, दरवाजा बंद किया, फिर घरघुसरे की तरफ भाला तौला. . .

अमरित ने घुटन महसूस की.

उछला भाला. घरघुसरा बिंध गया. भरभराकर भाले के साथ नीचे गिरा. भाले का बांस पछाड़ खाकर सांप की तरह कांपा. . .घरघुसरा फड़फड़ाया. लल्लन ने उसे दबोचा, लहूलुहान भाले में से बाहर झटका और गर्दन मरोड़ दी. घरघुसरे के रेशमी पंख झरकर फर्श पर बिखरे. लल्लन संतोष से हंसा, अमरित की ओर देखने लगा. अमरित सकपका-सा गया और बोल पड़ा, "जब मैं हियां था, तब भी आता था."

"अच्छा. लल्लन ने अचरज किया, "आप बताये नहीं." अमरित और सकपका गया. सकपकाहट छिपाने के लिए वह खाट पर बैठा.

लल्लन चला गया तो सोने की कोशिश की और जागता रहा. बोट्टा-बोट्टा आंखें गोल. . .'हुंह. . ."? नुकीली मुड़ी हुई छोटी चोंच 'हुंह. . .'

कुत्ता कैसे भूंका था. साला एक साल में ही भूल गया. 'भौं भौं. . कौन हो तुम? 'अन्धे भड़वे तेरा बाप हूं, बाप. . .' भौं-भौं. . .भाग जाओ. . कौन हो तुम. . .?आ गये तुम? बस समझता हूं. . .सब जानता हूं. . . हुंह. . .क्यू आये हवैं?'

हां, सचमुच क्यों आया है अमरित? यही देखने न कि लल्लन कमाई कर रहा है या नहीं? घर की सफाई कहती थी, लल्लन राजी-खुशी से है. अमरित ने पूछा नहीं था, पूछने का मौका ही कहां मिला था कि लल्लन काम क्या कर रहा है? लेकिन काम कर रहा है, इसे जानने की जरूरत? कुछ कर रहा हो, है मजे में.

लल्लन ने कहा, 'भईया, सुबह बातें करेंगे.' क्यों बातें करें? कैसी करें और किसकी करें? कुकड़ूं कूं. . .

सुबह हो रही है. . .अंधेरा जा रहा है. . .

क्यूं आये हवैं. . .?कऊन अमरित भईया?. . .कह दो चले जायें. टुरी को मत देखो. . .

घरघुसरा मर गया. उसकी लाश लल्लन ले गया. कह रहा था—"अब्भी जाके घूरे पे फेंक देहूं."

फेंक दी होगी. सचमुच घरघुसरा मर गया. कहां मरा घरघुसरा? यह रहा. . .यह रहा घरघुसरा. लेटा है खाट पर.

अमरित फड़फड़ाकर उठ बैठा.

कुकड़ूं. . .अंधेरा जा रहा है. . .सुबह गांव में चर्चा फैल जायेगी. अमरित लौट आया. सहन होगा? क्यों नहीं होगा. घरघुसरा बेशर्म होता है. इधर से उड़ाओ, उधर जायेगा. उधर से उड़ाओ, इधर आयेगा. कमरे से बाहर न जायेगा. सुनेगा सब कुछ, बोलेगा कुछ नहीं.

अमरित उठा. देर तक अंधेरे में खड़ा रहा, फिर मोमबत्ती जलायी फड़फड़ाते, मरते घरघुसरे के रेशमी पंख फर्श पर गिरे थे—अभी वहीं थे. फीकी रोशनी में अमरित ने उन्हें समेटा. जेब में भर लिया. कमरे से निकलकर वह उस कुएं के पास आया. हाथ बढ़ाकर पानी को छुआ. . .बिजुरी रे. . .बिजुरी रे. . .फिर चला गया आगे. पगडंडी उसके पीछे लंबी होती गयी. . .लेटती गयी. . . □

भारतयि ज्ञानपीठ के दो पुरस्कार—समारोह

"एक उत्कृष्ट लेखक एवं चिंतक के रूप में डा. मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार की ख्याति राष्ट्रव्यापी है. डा. मास्ति की साहित्यिक मनीषा को विविध विधाओं में गतिशील अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है. भारतीय संस्कृति में अटूट आस्था से परिपुष्ट उनके लेखन ने हमारे युग को एक नये दृष्टि बोध से मंडित किया है और मानव मूल्यों में विश्वास की पुन: प्रतिष्ठापना की है. . ." अपने स्वागत भाषण में भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने 1983 का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले कन्नड़ कथाशिल्पी की प्रशस्ति में कहा. इस 'ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह' की विशेषता यह रही कि इसका आयोजन बंगलूर के 'चौड़य्या मेमोरियल हॉल' में किया गया. प्रारंभ में भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने उपराष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरमण और डा. मास्ति का पुष्पहार से सम्मान किया. इसके बाद ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी श्री अशोक जैन ने कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री रामकृष्ण हेगड़े तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार चयन समिति के अध्यक्ष श्री पी.वी. नरसिंह्मा राव को सम्मानित किया. श्री मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित होने वाले उन्नीसवें साहित्यकार हैं. इस अवसर पर कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री रामकृष्ण हेगड़े ने कहा, "डा. मास्ति को किसी कीर्ति की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उनकी ख्याति सर्वत्र फैल चुकी है. वे कन्नड़ साहित्य के सम्राट तो हैं ही, राष्ट्रीय साहित्यकारों में भी उनका नाम अग्रिम पंक्ति में है. . ."

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन समूह के कार्यकारी निदेशक श्री रमेशचंद्र ने डा. मास्ति का संक्षिप्त परिचय दिया. उपराष्ट्रपति ने डा. मास्ति का पारंपरिक विधि से सम्मान किया और वाग्देवी की प्रतिमा तथा प्रशस्ति-पत्र और चेक भेंट किया.

ज्ञानपीठ पुरस्कार चयन मंडल के अध्यक्ष श्री नरसिंह्मारावा ने ज्ञानपीठ तथा लेखक के विषय में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया. श्री आर. वेंकट रमण ने डा. मास्ति के प्रति शुभकामनायें व्यक्त करते हुए कहा कि जब तक धरती और आकाश बना रहे . . .जब तक वाल्मीकि को याद किया जाता रहे. तब तक डा. मास्ति की रचनायें और उनका साहित्य जीवंत बना रहे.

अंत में डा. मास्ति ने अपने भाषण में अपने साहित्य पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए देश की सांस्कृतिक परंपरा की ओर भी इशारा किया—". . . .मैंने देश भ्रमण के दौरान देखा कि हमारे जन समुदाय में संस्कृति की जड़ें बहुत गहरी हैं. . .मैं जल्दी समझ गया कि यह संस्कृति हमारी राष्ट्रीय संस्कृति है."

ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह में (बाएं से दाएं) श्री अशोक जैन, श्री रामकृष्ण हेगड़े, श्री एन. एन. वर्मा, डा. मास्ति और साहू श्रेयांसप्रसाद जैन.

मूर्तिदेवी पुरस्कार समारोह में श्री सी. के. नागराजराव को पुरस्कार-प्रतीक भेंट कर रहे हैं श्री विट्ठल गाडगिल.

'ज्ञानपीठ पुरस्कार' के बाद भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा दिए जाने वाले दूसरे महत्वपूर्ण पुरस्कार का नाम है. 'मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार' ज्ञानपीठ के संस्थापक स्व. साहू शांति प्रसाद जैन तथा वर्तमान अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन की मातुश्री स्व. मूर्तिदेवीजी की स्मृति में स्थापित यह पुरस्कार ऐसी कृति को दिया जाता है जिसमें साहित्यिक मूल्यों के साथ ही सनातन जीवन मूल्यों . . विशेषकर सत्य, अहिंसा, अनेकांत, अपरिग्रह, समता, शांति, संयम, करुणा तथा त्याग का प्रेरक संदेश अंतर्निहित हो.

वर्ष 1983 का प्रथम 'मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार' 'पट्ट महादेवी शांतला' पर वरिष्ठ कन्नड़ साहित्यकार श्री सी. के. नागराजराव को हाल ही में राजधानी के फिक्की सभागार में प्रदान किया गया. केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री विट्ठल गाडगिल ने लेखक को ग्यारह हजार रुपये का चेक, प्रशस्ति पत्र, शॉल और सरस्वती-प्रतिमा भेंट की. इस अवसर पर उन्होंने 'पट्टमहादेवी शांतला' के दूसरे खंड का विमोचन भी किया. प्रशस्ति पत्र का वाचन सुश्री ऋचा जैन ने किया.

दो दिन के इस समारोह में 'क्षेत्रीय साहित्य: राष्ट्रीय संदर्भ' तथा 'भारतीय साहित्य में जैन कथा साहित्य का योगदान' विषयों पर परिसंवाद भी आयोजित किये गये. भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने कहा कि यह पुरस्कार ऐसी रचनाओं का समादर करता है जो संस्कृति के मूलभूत मूल्यों को प्रतिपादित करती हैं.

भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी श्री अशोक जैन ने प्रारंभ में साहित्यकारों का स्वागत किया और अंत में आभार-ज्ञापन. उन्हें प्रसन्नता इस बात की थी कि सभी वक्ताओं ने साहित्य के मूल चरित्र को ही रेखांकित किया जो 'भारतीय' है. □

भारतयि ज्ञानपीठ के दो पुरस्कार—समारोह

"एक उत्कृष्ट लेखक एवं चिंतक के रूप में डा. मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार की ख्याति राष्ट्रव्यापी है. डा. मास्ति की साहित्यिक मनीषा को विविध विधाओं में गतिशील अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है. भारतीय संस्कृति में अटूट आस्था से परिपुष्ट उनके लेखन ने हमारे युग को एक नये दृष्टि बोध से मंडित किया है और मानव मूल्यों में विश्वास की पुन: प्रतिष्ठापना की है. . ." अपने स्वागत भाषण में भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने 1983 का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले कन्नड़ कथाशिल्पी की प्रशस्ति में कहा. इस 'ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह' की विशेषता यह रही कि इसका आयोजन बंगलूर के 'चौड़य्या मेमोरियल हॉल' में किया गया. प्रारंभ में भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने उपराष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरमण और डा. मास्ति का पुष्पहार से सम्मान किया. इसके बाद ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी श्री अशोक जैन ने कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री रामकृष्ण हेगड़े तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार चयन समिति के अध्यक्ष श्री पी.वी. नरसिंह्मा राव को सम्मानित किया. श्री मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित होने वाले उन्नीसवें साहित्यकार हैं. इस अवसर पर कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री राम कृष्ण हेगड़े ने कहा, "डा. मास्ति को किसी कीर्ति की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि उनकी ख्याति सर्वत्र फैल चुकी है. वे कन्नड़ साहित्य के सम्राट तो हैं ही, राष्ट्रीय साहित्यकारों में भी उनका नाम अग्रिम पंक्ति में है. . ."

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन समूह के कार्यकारी निदेशक श्री रमेशचंद्र ने डा. मास्ति का संक्षिप्त परिचय दिया. उपराष्ट्रपति ने डा. मास्ति का पारंपरिक विधि से सम्मान किया और वाग्देवी की प्रतिमा तथा प्रशस्ति-पत्र और चेक भेंट किया.

ज्ञानपीठ पुरस्कार चयन मंडल के अध्यक्ष श्री नरसिंह्मा राव ने ज्ञानपीठ तथा लेखक के विषय में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया. श्री आर. वेंकट रमण ने डा. मास्ति के प्रति शुभ-कामनायें व्यक्त करते हुए कहा कि जब तक धरती और आकाश बना रहे . . .जब तक वाल्मीकि को याद किया जाता रहे. तब तक डा. मास्ति की रचनायें और उनका साहित्य जीवंत बना रहे.

अंत में डा. मास्ति ने अपने भाषण में अपने साहित्य पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए देश की सांस्कृतिक परंपरा की ओर भी इशारा किया—". . . .मैंने देश भ्रमण के दौरान देखा कि हमारे जन समुदाय में संस्कृति की जड़ें बहुत गहरी है. . . मैं जल्दी समझ गया कि यह संस्कृति हमारी राष्ट्रीय संस्कृति है."

'ज्ञानपीठ पुरस्कार' के बाद भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा दिए जाने वाले दूसरे महत्त्वपूर्ण पुरस्कार का नाम है. 'मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार' ज्ञानपीठ के संस्थापक स्व. साहू शांति प्रसाद जैन तथा वर्तमान अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन की मातुश्री स्व. मूर्तिदेवीजी की स्मृति में स्थापित यह पुरस्कार ऐसी कृति को दिया जाता है जिसमें साहित्यिक मूल्यों के साथ ही सनातन जीवन मूल्यों . . विशेषकर सत्य, अहिंसा, अनेकांत, अपरिग्रह, समता, शांति, संयम, करुणा तथा त्याग का प्रेरक संदेश अंतर्निहित हो.

वर्ष 1983 का प्रथम 'मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार' 'पट्ट महादेवी शांतला' पर वरिष्ठ कन्नड़ साहित्यकार श्री सी. के. नागराजराव को हाल ही में राजधानी के फिक्की सभागार में प्रदान किया गया. केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री विट्ठल गाडगिल ने लेखक को ग्यारह हजार रुपये का चेक, प्रशस्ति पत्र, शॉल और सरस्वती-प्रतिमा भेंट की. इस अवसर पर उन्होंने 'पट्टमहादेवी शांतला' के दूसरे खंड का विमोचन भी किया. प्रशस्ति पत्र का वाचन सुश्री ऋचा जैन ने किया.

दो दिन के इस समारोह में 'क्षेत्रीय साहित्य : राष्ट्रीय संदर्भ' तथा 'भारतीय साहित्य में जैन कथा साहित्य का योगदान' विषयों पर परिसंवाद भी आयोजित किये गये. भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने कहा कि यह पुरस्कार ऐसी रचनाओं का समादर करता है जो संस्कृति के मूलभूत मूल्यों को प्रतिपादित करती हैं.

भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी श्री अशोक जैन ने प्रारंभ में साहित्यकारों का स्वागत किया और अंत में आभार-ज्ञापन. उन्हें प्रसन्नता इस बात की थी कि सभी वक्ताओं ने साहित्य के मूल चरित्र को ही रेखांकित किया जो 'भारतीय' है. □

ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह में (बाएं से दाएं) श्री अशोक जैन, श्री रामकृष्ण हेगड़े, श्री एन. एन. वर्मा, डा. मास्ति और साहू श्रेयांसप्रसाद जैन.

मूर्तिदेवी पुरस्कार समारोह में श्री सी. के. नागराजराव को पुरस्कार-प्रतीक भेंट कर रहे हैं श्री विट्ठल गाडगिल.

नयी परंपरा की खोज

राकेश वत्स

गपशप की जमीन पर साहित्य जगत की हलचल को तीसरी नजर से देखने का प्रयास इस स्तंभ का लक्ष्य है, लेकिन यह तीसरी नजर न तो पत्रिका की है, न संपादक की. यह नजर है राकेश वत्स की. मध्य प्रदेश की साहित्य और कला परिषदों की दो पत्रिकाओं —'साक्षात्कार' और 'पूर्वग्रह' (कविताएं) पर तीसरी नजर का नजरिया आप मई (द्वितीय) अंक में पढ़ ही चुके हैं. . .और इस बार यह नजर पड़ रही है 'पूर्वग्रह' के कहानी अंक पर. . . इसे आप तक पहुंचाने का हमारा वादा तो पिछले अंक के लिए था, मगर स्थानाभाव के कारण प्रकाशित न हो सका था.

लीजिए, मध्यप्रदेश के सांस्कृतिक परिदृश्य पर एक और नया हंगामा हाजिर है. 'पूर्वग्रह' के 'इधर की कहानी' विशेषांक के रूप में मध्यप्रदेश कला परिषद की महत्वाकांक्षाओं को उजागर करता एक और दिलचस्प कारनामा.

पूरे अंक में जाने-माने और स्थापित कहानीकार मात्र दो हैं—काशीनाथ सिंह से जरूर कहानी ली गयी है लेकिन निर्मल वर्मा से कहानी न लेकर उनका लेख छापा गया है. बाकी के कहानीकार या तो प्रतिष्ठित कवि हैं या अप्रतिष्ठित और नवोदित लेखक.

बिलकुल कोरे हस्ताक्षर उदयन बाजपेयी की छः कहानियां काले कवर वाली एक पुस्तिका में अलग से छापी गयी हैं. ठीक ही किया गया है, क्योंकि ये कहानियां काले हाशिए में ही छपने लाईक थीं. शीर्षस्थ कहानी 'सुदेशना' में जरूर थोड़ा दम है, बाकी की पांच कहानियां तो गर्भावस्था में ही अपंग हो गयी जान पड़ती हैं. भाषा, व्याख्या और उपमानों में जरूर थोड़ी ताजगी है, पर वह अनुभवों की अगहनता और फेंटेसी की दलदल में उलझकर बेमाने हो गयी है. अशोक वाजपेयी जैसी रक्तबीज के साथ आयी प्रतिमा का करिश्मा और गंभीरता यहां नहीं है. सभी कहानियों को पढ़ते वक्त यही एहसास कचोटता रहता है कि आनेवाली पीढ़ी के अगर इसी 'हाल' को तरजीह मिलनी है तो बस फिर समझिए कि हम कहानी के इस दौर के अंतिम पड़ाव पर पहुंच गये हैं.

शमशेर बहादुर सिंह की वर्षों पहले संग्रह में छपी कहानी–'प्लाट का मोर्चा' को एक आकर्षक परिदृश्य कहा जा सकता है, जिसमें रखकर उन्होंने एक प्यारी-सी कविता पाठकों के सामने प्रस्तुत की है. काशीनाथ सिंह की 'पहला प्यार' पढ़ते समय गुलाम अली का गाया यह शेर कानों में गूंजता रहता है–'हम को अपनी आशिकी का वो जमाना याद है, चुपके-चुपके रात-दिन आंसू बहाना याद है.' प्रयाग शुक्ल की 'प्रेम कथा' के पहले तीन पैरों में दफ्तर का वर्णनात्मक वर्णन पढ़कर आगे कदम बढ़ाने की हिम्मत ही जवाब दे जाती है. रामनारायण शुक्ल की दोनों लघु कहानियां ठीक-ठाक हैं, अच्छी लघु कथाओं के इतिहास में बढ़ोतरी करने वालीं. बाकी की कहानियों में तो रियेक्ट करने के लिए उकसाने की भी ताकत नहीं है.

सोचता हूं, इन कहानियों के बल पर अशोक वाजपेयी आखिर क्या करना चाहते हैं? क्या हो सकता है? कहीं यह विशेषांक कहानी को विपन्न साबित करने की एक साजिश तो नहीं है, ताकि साहित्य की राजनीति में भी केवल कविता ही कविता दिखाई दे. मदन सोनी द्वारा नामवर सिंह को दिये गये स्पष्टीकरण का यह अंश भी इसी बात को साबित करता है. "अगर 'पूर्वग्रह' ने कहानी पर कोई अंक नहीं निकाला तो इसके पीछे 'पूर्वग्रह' का पूर्वाग्रह उतना नहीं, जितनी खुद इस विधा की दयनीय दशा रही है. 'पूर्वग्रह' के काव्य-अनुराग को भी इसी तर्क से समझा जा सकता है." मैं सोनीजी से विनम्र सवाल करने की इजाजत चाहता हूं कि यदि संपादक वाजपेयीजी कहानीकार या उपन्यासकार होते, तब भी क्या ऐसा ही होता?

अशोक वाजपेयी ने अपने संपादकीय में कथा साहित्य की विपन्नता का प्रमाण इस सवाल में खोजा है कि "पिछले दो दशकों में कोई भी आलोचक केवल कथा-आलोचना के बल पर महत्वपूर्ण क्यों नहीं हो सका?" उनका यह भी कहना है कि "अगर कथा आलोचना को विचारोत्तेजित करने में सफल नहीं हो सकी है तो कुछ सीमा तक कथा की विपन्नता इसके लिए जिम्मेदार है." उनकी स्थापना का एक दिलचस्प निष्कर्ष यह भी हो सकता है कि कबीर की कविता के बल पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल महत्वपूर्ण नहीं हुए, तुलसी के बल पर हुए, इसलिए साबित हुआ कि कबीर की कविता विपन्न है और उसमें रामचंद्र शुक्ल की आलोचना को विचारोत्तेजित करने की क्षमता नहीं थी. कितना विचित्र तर्क है.

अशोक वाजपेयी के संपादकीय और 'पूर्वग्रह' की तरफ से डॉ. नामवर सिंह के सामने रखे गये सवालों से एक बात तो बिल्कुल साफ है कि 'इधर की कहानी' विशेषांक की योजना के पीछे मूल रूप से यह आग्रह कारफर्मा है कि प्रेमचंद की परंपरा के साथ, जयशंकर प्रसाद से कवि-कथाकारों की एक नयी परंपरा स्थापित की जाये और उसके बल पर मार्क्सवादी लेखकों और समीक्षकों का डटकर मुकाबिला किया जाये. वाजपेयी द्वारा उद्धृत उपन्यास अंश की मीन-संवेदना को कवि-संवेदना के नाम पर 'समूचे यथार्थ' के रूप में पेश करना भी इस आग्रह को पूरी तरह से स्पष्ट कर देता है. डॉ. नामवर सिंह इस साजिश को ताड़ जाते हैं, इसलिए वे इस अवधारणा को बड़ी ही विनम्रता के साथ रिजेक्ट कर देते हैं.

एक बात और मजेदार होती है कि 'पूर्वग्रह' की ओर से (औरत के नाम पर भी) लाख कोशिश होती है कि नामवरजी कृष्णा सोबती जैसे कवित्वपूर्ण गद्य लेखकों के बारे में कुछ न कुछ कमेंट जरूर करें, लेकिन नामवरजी के तीखे व्यंग्य के सामने उसकी एक नहीं चलती.

निर्मल वर्मा का लेख भी इसी साजिश की एक कड़ी-सी जान पड़ता है. जिसमें उन्होंने प्रेमचंद के साहित्य को गांधीवाद, अस्तित्ववाद और विवेकानंद के दर्शन की रोशनी में परखने और पड़तालने की गंभीर कोशिश की है और अपनी स्थापनाओं की व्याख्या इस नुक्ते को केंद्र में रखकर की है कि "एक क्लासिक लेखक की यह अद्भुत विशेषता है. हम उस के आविष्कारों को बिना उसके प्रति आभारी महसूस हुए भी अपना लेते हैं. . ."

और उसके साथ ही उनका यह 'आपात् वाक्य' भी है कि—"स्वयं प्रेमचंद को प्रेमचंद की परंपरा से मुक्त करना जरूरी है." लेकिन यह काम करेगा कौन? कम से कम 'पूर्वग्रह' के इस "थ्यूरी-अंक" से तो संभव नहीं है. □